

# ऋग्वेद में नीति-तत्त्व

( अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ की पी-एच० डी०  
उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध )

ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः

प्रबन्ध सार

निर्देशक :

प्रो० सत्य प्रकाश सिंह

एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०

अध्यक्ष संस्कृत विभाग,

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,

अलीगढ़-२०२००२

शोध कर्ता :

स्वालिद बिन यूसुफ खाँ

एम० ए०, एम० फिल०

1989

संस्कृत विभाग,  
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,  
अलीगढ़-202002



## प्रबन्ध सार =====

### ऋग्वेद में नीति-तत्त्व =====

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में व्यवस्था बनाये रखने के लिये तथा मर्यादाहीनता को रोकने के लिए ऋषियों, मुनियों एवं विचारकों ने अपने अनुभव तथा ज्ञान के आधार पर कतिपय नियम निर्धारित किये हैं। हम अपने चारों ओर रहने वाले मनुष्यों तथा इतर प्राणियों के साथ किस प्रकार व्यवहार करें कि वह 'उचित' हो - 'ठीक' हो तथा 'सदाचार' की संज्ञा के योग्य हों। जिस शास्त्र में आचरण सम्बन्धी इन नियमों का विवेचन किया जाता है उसे 'आचार शास्त्र' अथवा 'नीति शास्त्र' कहते हैं। यह सत्य, हित तथा परिणाम में सुख देने वाली बातों का वर्णन करता है। यह शास्त्र उस माप-दण्ड की खोज करता है जिसके द्वारा आचरण के नियमों की परख की जाती है। वस्तुतः इसका लक्ष्य मानवता का कल्याण है। परन्तु यह कल्याण मात्र लौकिक नहीं, अपितु आध्यात्मिक भी है जो कि कोई पारलौकिक उपलब्धि नहीं है। यह इसी पृथिवी पर सम्भव है। नैतिकता सामाजिक संरक्षण का साधन है।

यह सत्य है कि नैतिकता के अभाव में मानव कल्याण की सम्भावना नगण्य हो जाती है तथा जिस समाज अथवा धर्म में इसे महत्त्व नहीं दिया जाता उसकी प्रगति भी अवरुद्ध हो जाती है। पाश्चात्य विद्वानों ने अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकों तथा लेखों के द्वारा वैदिक साहित्य के प्रति अपनी रुचि एवं अनुशीलन का परिचय दिया है। परन्तु वेद के मर्म से पूर्णतः अभिज्ञ न हो सकने के कारण उन्होंने

इसके प्रति अनेक भ्रान्त धारणाओं का प्रचार किया है । उदाहरणार्थ कीथ महोदय ने वैदिक वाङ्मय को सदावार से रहित माना है । लुई रेनु ने ऋषियों की नैतिकता को धन, पुत्र, स्वास्थ्य इत्यादि भौतिक आकांक्षाओं पर आधारित बताया है तथा विन्टरनिज़ ऋग्वेद में नैतिकता की किसी भी सम्भावना को स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं । इस प्रकार उन्होंने ऋग्वेद को एक आदिम तथा असभ्य, बर्बर जाति का गान कहा है ।

परन्तु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में उपर्युक्त मान्यताओं का खोखलापन सामने लाया गया है ।

सांसारिक नैतिकता का कोई भी आधार नहीं है । वह व्यक्ति तथा समाज के साथ परिवर्तित होती रहती है । वह मनुष्यों के समक्ष कल्पित नियमों को प्रस्तुत कर देती है जिसे वे मानें तो उत्तम है अन्यथा कोई विशेष बात नहीं है । इस प्रकार के नैतिक नियम जिसमें कोई प्रेरक तत्त्व नहीं होता ग्रन्थों में ही जीर्ण-शीर्ण हो जाते हैं । वे कभी भी व्यवहार का अंग नहीं बन पाते , क्योंकि व्यक्ति पूर्णतः स्वतन्त्र है कि वह इन नियमों को स्वीकार करे अथवा न करे । जब उसे यह भी सुविधा प्राप्त है कि इन्हें स्वीकार न करने में कोई दण्ड अथवा किसी प्रकार की हानि की सम्भावना नहीं है तो वह इनका पालन क्यों करेगा ? इस प्रकार की नैतिकता कभी भी व्यावहारिक अथवा मानव समाज के वास्तविक हित में सफल नहीं होती ।

ऋग्वेद ने धर्म को नीति से पृथक् नहीं किया है । वस्तुतः नैतिकता का सम्बन्ध जीवन-कर्म से है, अतः धर्म की भावना में सदा ही नैतिक तत्त्व के अधिक प्रधान होने की प्रवृत्ति रहती है । नैतिक मनुष्य चाहे सामान्य अर्थों में धार्मिक भी न हो परन्तु धार्मिक मनुष्य अवश्य ही नैतिक होगा । उच्च प्रकार की नैतिकता का अन्त धार्मिकता में ही होता है । धर्म के प्रतिपाद्य भूत ईश्वर पर आधारित नैतिकता स्वतः स्फूर्त होती है । जिस समाज में नैतिकता का सम्बन्ध ईश्वरसे होता है वह समाज नैतिक दृष्टि से अधिक सुदृढ़ होता है ।



परन्तु धर्म नैतिकता होने के साथ-साथ कुछ अतिरिक्त भी है । धर्म भावनाओं का अधिक सम्मान करता है जबकि नीति आचरण का । धर्म से चारित्रिक बल आता है । जिन देशों में धर्म अथवा ईश्वर की उपेक्षा की गई है, उन देशों में इसका दुष्परिणाम देखा जा सकता है । वहाँ परिवार एवं समाज विच्छिन्न हो गया है । सम्बन्धों के मध्य एक रेखा खिंच गई है । इसका एक कारण यह है कि जहाँ परमात्मा के अस्तित्व को नकारा जायेगा वहाँ किसी भी अन्य अस्तित्व की अपेक्षा नहीं की जा सकती । चेतना को जड़ पदार्थों से सम्पृक्त करने के कारण मनुष्य की अपनी जड़ें प्रकम्पित हो गई हैं । जीवन को यदि जड़ से जोड़ने का नाम संसार है तो जीवन को जीवन से जोड़ने अर्थात् चेतना को आत्मा से जोड़कर आगे बढ़ने का नाम धर्म है तथा जिस मार्ग पर यह धर्म गन्तिमान् होता है उसी को नीति कहते हैं ।

वैदिक नीति 'क्षण भंगुरवाद' के सिद्धान्त पर प्रतिष्ठित न होकर 'ऋत' पर आधारित है । ऋत एक शाश्वत नियम है । वैश्व स्तर पर वह प्रकृति का नियम है जो अव्यवस्था अथवा विप्लव के ऊपर सामंजस्य स्थापित करता है एवं सौन्दर्यमय रूप की संरचना करता है । यह सामाजिक दृष्टि से वह मौलिक नियम है जो अपने नियम तथा संस्मृति द्वारा मनुष्य के जीवन एवं चरित्र पर नियंत्रण रखता है तथा नैतिकता अथवा अच्छाई को उत्पन्न करता है । ऋग्वेद ने ईश्वर के प्रांगण को ऋत का सदन बताया है जो कि सर्वोच्च गगन में है । इसी पर वैदिक नैतिकता आधारित है । फलतः उसमें स्थायित्व एवं स्थिरता विद्यमान है । वह सांसारिक नैतिकता की भाँति क्षण-क्षण परिवर्तित नहीं होती ।

यदि ऋत इस संसार में परिव्याप्त नहीं होता तो कहीं भी नियम-बद्धता नहीं होती तथा नैतिकता का कोई मूल्य भी नहीं रह जाता । मनुष्य ही नहीं देवी-देवता भी इसका पालन दृढ़ता से करते हैं । ऋत दो स्तरों पर कार्य करता है - यान्त्रिक तथा वैयक्तिक । विश्व में जो व्यवस्था है अर्थात् सूर्य का उदयास्त, ऋतुओं का आवागमन पृथिवी का परिक्रमण इत्यादि यान्त्रिक है । इन

सबके पीछे ऋत ही कार्य कर रहा है । वैयक्तिक स्तर पर भी यह कार्य करता है । उपासक को जो उपासना द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है, वह ऋत ही के द्वारा होती है । लघुत्तम जीव की प्रार्थना को भी ईश्वर इसी के द्वारा सुनता है, क्योंकि उसने अपने लिये भी कल्पित नियम बना रखे हैं जिनके अनुसार वह कार्य करता है । इस प्रकार ऋत के यान्त्रिक तथा वैयक्तिक स्वरूप को बाह्य तथा आन्तरिक भी कहा जा सकता है ।

जिस प्रकार कल्याणार्थक शब्द 'शिव' को धारण करते हुए भी शिव संहार के देवता है अर्थात् उनमें निर्माण एवं विनाश दोनों ही प्रकार की शक्तियाँ विद्यमान हैं, उसी प्रकार ऋत में जहाँ मधुरता है, वहाँ कर्कशता भी । अतः ऋत अपने उक्त दोनों स्वरूपों में सौन्दर्यात्मक तथा उग्रतात्मक होता है । मनुष्य को प्राकृतिक सौन्दर्य तथा सद्य-प्रवृत्ति से जो प्रसन्नता प्राप्त होती है वह ऋत का सौन्दर्य-मय रूप है । जब ऋत दुष्टों को दण्डित करने को उद्यत होता है तो वह उसका उग्र रूप है ।

वैदिक देवता ऋत जान एवं ऋतज्ञ हैं । उन्होंने सर्व प्रथम ऋत के नियमों को आत्मसात् किया है तदुरान्त मनुष्यों को इसके पालन का निर्देश दिया है । वे अपने दिव्य आवरण के द्वारा मनुष्यों के समक्ष नैतिकता का आदर्श प्रस्तुत करते हैं, जिसका अनुसरण करके कोई भी देवत्व तक पहुँच सकता है ।

वे स्वयं दान करते हैं ताकि मनुष्य भी दान करे । दान एक ऐसी व्यवस्था है जिसे द्वारा समाज में आर्थिक समस्या उत्पन्न नहीं होती । वे निन्दकों, कृपणों तथा अहंकारियों से घृणा करते हैं, जिसे स्पष्ट होता है कि निन्दा, कृपणता तथा अहंकार अैत्तिक है । उनकी दृष्टि में 'व्याज' के आधार पर जीवन निर्वाह करना अैत्तिक है । इसी प्रकार 'ऋत' को अपनी जीविका का साधन बनाना भी अैत्तिक है । उनकी इच्छा है कि मनुष्य उचित मार्ग से जीवन-यापन करे । उनकी दृष्टि में समस्त प्राणी समान हैं । वे किसी प्रकार का भेद भाव नहीं करते । वे केवल नैतिकता तथा अैत्तिकता के आधार पर मनुष्यों में भेद करते हैं । उनकी आकांक्षा

है कि मनुष्य पत्म की स्थिति से निकल कर सन्मार्ग पर आए ।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि वैदिक नीति संसार को सम्पूजित करके देखती है । वह मनुष्यों के मध्य सामंजस्य तथा प्रेम की स्थापना करती है । वैदिक देवता प्रत्येक प्रकार से मनुष्यों की सहायता करके उन्हें सम्पन्न रखते हैं । वे भौतिक जीवन की सफलता में भी सहायक हैं तथा नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन की उपलब्धि में भी । उनकी एक मात्र इच्छा है कि संसार से दुश्चरित्रता समाप्त हो जाए तथा भविष्य में भी वह पुनर्भूत न हो सके । उन्होंने समाज में किस प्रकार आचरण करना चाहिए, इसका प्रारूप प्रस्तुत किया है, जो काल की दृष्टि से चाहे पुरातन हो चुका हो किन्तु उपादेयता की दृष्टि से उद्यापि नवीन जैसा है ।

ऋग्वेद ने मनुष्यों के ऊपर कुछ कर्त्तव्य अथवा ऋण निर्धारित किए हैं जिनसे उऋण होना मानव का कर्त्तव्य है । वे ऋण हैं - ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ तथा नृयज्ञ । ये ऐसे कर्त्तव्य हैं जिन्हें निरन्तर करने रहने से दानशीलता तथा अहंकार मुक्तता प्राप्त होती है । यज्ञ में देवताओं के समस्त समर्पण इसका उदाहरण है।

अनेक धर्मों अथवा नीति शास्त्रियों ने मनुष्य की कर्म में स्वतन्त्रता स्वीकार नहीं की है । वे मनुष्य को परमात्मा अथवा भाग्य द्वारा संवाहित प्राणी मानते हैं । परन्तु ऋग्वेद इसके विपरीत मनुष्य के कर्म-स्वातन्त्र्य को स्वीकार करता है । उसकी दृष्टि में मनुष्य कर्मों में पूर्णतः स्वतन्त्र है, केवल फल में नहीं । परन्तु वह यह भी स्वीकार करता है कि देवता किसी कर्म को निष्फल नहीं करते । अतः मनुष्य पाप-पुण्य में चयन करने को पूर्णतः स्वतन्त्र है । जो जैसा करेगा वैसा ही फल भी प्राप्त करेगा ।

वैदिक नीति यह भी स्पष्ट करती है कि कर्मों का प्रभाव कर्त्ता के अतिरिक्त उसके परिपार्श्व तथा उसकी सन्तान आदि पर भी पड़ता है । उसकी यह नीति मनोवैज्ञानिक तथा वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आलोक में सत्य सिद्ध होती है । वे भी इस बात से सहमत हैं कि मनुष्य का व्यवित्त अपने परिपार्श्व की उपेक्षा करके

नहीं निर्मित हो सकता है तथा 'जीन्स' द्वारा गुण अथवा अवगुण आगामी सन्तति तक संक्रमित होते रहते हैं ।

वह तीन प्रकार के कर्मों का विधान करती है - संचित, प्रारब्ध तथा क्रियमाण । उसकी यह भी अवधारणा है कि इन पर विचार करके ही कर्मों के प्रति प्रवृत्त होना चाहिए । इस प्रकार वैदिक ऋषियों के समक्ष विकल्प था कि वे सांसारिक नियमों का क्या करें अथवा दैविक नियमों का , परन्तु उन्होंने विवेक के द्वारा दिव्य जीवन अर्थात् उच्च-जीवन के लिये दैविक नियमों को आत्मसात् किया । उन्होंने देवताओं के आचरण को आदर्श रूप में स्वीकार किया ।

ऋषियों के समक्ष सर्वाधिक निन्दित एवं हेय था पाप । पाप को उन्होंने बन्धन, कल्मष एवं संकीर्णता इत्यादि के समान माना है जो कि स्वतन्त्रता को समाप्त करने वाला, चरित्र को क्लुषित करने वाला तथा जीवन के विस्तार को अवरुद्ध करने वाला है । अतः ऋषि दुःख के मूल कारण पाप से सुरक्षित रहने का यथा सम्भव प्रयत्न करता है । वह तीन प्रकार के पापों का उल्लेख करता है ज्ञात, अज्ञात तथा विस्मृत । वह समस्त पापों से सुरक्षित रहना चाहता है परन्तु अज्ञात से वह विशेष रूप से सुरक्षित रहना चाहता है । क्योंकि इससे पूर्णतः अभिज्ञ होने के कारण इसे समाप्त करना दुष्कर होता है । अतः वह देवताओं से भी सहायता लेकर अपने पापों का प्रक्षालन करता है । ऋषि अपने पापों को स्वीकार करने में लेश मात्र भी संकोच नहीं करता । उसकी स्वीकारोक्ति ही पापों से उसकी मुक्ति का कारण बनती है ।

इस प्रकार सर्व प्रथम वह अपने पापों से मुक्त होता है तदुपरान्त नैतिकता के प्रति उन्मुख, क्योंकि ऋत अथवा देवताओं का अवतरण उसी चित्त में होता है जो निष्पाप तथा ग्राह्य शक्ति से युक्त होता है । उसे ज्ञात है कि संसर्ग का कुप्रभाव आचरण पर पड़ता है । अतः वह पाप के अतिरिक्त पापियों से भी दूर रहता है ।

वह किसी के भी प्रति द्रोह तथा असत्य को अनैतिक मानता है। वह विचार तथा व्यवहार दोनों ही में असत्य से सुरक्षित रहने की चेष्टा करता है । उसके लिये बोरी, अपयश, अज्ञान तथा अमाचार आदि त्याग्य हैं । उसे अपने जीवन

में ज्ञान, दान, सत्य, विनय, अतिथि सेवा तथा मधुर वचन आदि का वर्चस्व अभिप्रेत है ।

उसके लिये आदर्श जीवन वह है जिसमें पाप अथवा अनैतिकता के लिये कोई स्थान न हो तथा जिसके अन्तर्गत उसके विचार, उसके आचरण एवं उसकी आजीविका सभी कुछ निष्पाप हो । इसीलिये वह अदिति तक पहुँचने को अपनी नैतिकता का चरम लक्ष्य मानता है । क्योंकि वहीं पहुँच कर दुःखों से मुक्ति सम्भव है , वस्तुतः वह चेन्मा के उस तल पर पहुँचना चाहता है जहाँ पहुँच कर पापी भी निष्पाप हो जाता है । उसकी यह धारणा गीता में ज्ञानयोग के रूप में देखी जा सकती है ।

आर्ष जीवन का लक्ष्य संसार से पलायन नहीं है । वह इसी संसार में इन्द्रियों का सदुपयोग करते हुए जीवन व्यतीत करना अपना कर्त्तव्य समझता है । कर्त्तव्य को पूरा करना ही उसके जीवन का लक्ष्य है । देवताओं में विद्यमान कल्याण भावना निष्पापत्व, सरलता, सुबुद्धि तथा दान भावना आदि को आत्मसात् करना उसका लक्ष्य है, जिन्हें प्राप्त करके वह दीर्घ काल तक संसार में नैतिकता का विस्तार चाहता है ।

ऋग्वेद जहाँ नैतिकता के मूल में 'ऋत' को स्वीकार करता है वहीं अनैतिकता के मूल में 'निर्ऋति' को । निर्ऋति एक प्रकार की अव्यवस्था, अभाव , खण्डन तथा विनाश आदि की शक्ति है । ऋग्वेद में इसे रोग जैसा घातक कहा गया है । एक मन्त्र में इसे दुःस्वप्नों का कारण भी कहा गया है । यह सर्वविदिति है कि दुःस्वप्नों अथवा स्वप्नों का सम्बन्ध अवेत्तम से होता है । अतः निर्ऋति भी एक प्रकार की अवेत्तम के घातक पक्ष की प्रतीक हो सकती है ।

जो व्यक्ति ऋत से हटकर निर्ऋति का अनुगमन करता है, वह अन्य की उत्तमी हानि नहीं करता , जितनी कि वह स्वयं अपनी करता है । इस प्रकार के व्यक्ति अपने ही दुष्कर्मों के द्वारा नष्ट हो जाते हैं । ऋग्वेद की मान्यता है कि ऐसा व्यक्ति अपने कर्मों के द्वारा रोगग्रस्त होकर अपना जीवन नष्ट कर सकता है ।

कुटिलता का आचरण करने वाले को यक्ष्मा रोग से पीड़ित होने की बात करना है । उसकी यह धारणा आधुनिक मनोविज्ञान के द्वारा सत्यापित होती है । मनोविज्ञान का भी कहना है कि मानसिक तथा संवेगात्मक तत्त्वों का शारीरिक स्वास्थ्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है । मानसिक अव्यवस्था का प्रभाव शरीर पर पड़ता है, जिससे शरीर में विभिन्न प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं । प्रत्यक्ष रूप से शरीर रूग्ण होता है परन्तु उसका मूल कारण प्रायः मानसिक होता है । इस प्रकार के रोगों को 'मनोदैहिक रोग' कहते हैं ।

ऋतुगामी में सवेत्तमानसिक अथवा प्राणिक नियन्त्रण स्थापित हो जाना है जिसके कारण उसका अवचेतन उसे अभिभूत नहीं कर पाता । परन्तु जो निर्मृति के पथ पर जाता है, वह अपने औत्तिक व्यवहार के कारण अवचेतन की घातकता को निमन्त्रण देता है, जिसके परिणामस्वरूप वह रोग आदि के द्वारा स्वतः नष्ट हो जाता है ।

ऋग्वेद में यह भी स्पष्ट किया गया है कि व्यक्ति निर्मृति अथवा औत्तिकता का अनुसरण क्यों करता है । उसका कथन है कि व्यक्ति अपनी इच्छा - शक्ति की दुर्बलता, सुरा पान, द्यूत क्रीडा, अज्ञान तथा दुर्बलताओं के कारण पाप करता है । समस्त कार्यों के पीछे 'इच्छा' अथवा 'काम' को स्वीकार किया गया है । जैसी इच्छा होगी वैसा ही कर्म भी होगा । अतिरिक्त अपवित्रता व्यवहार के द्वारा पाप को जन्म देती है । सुरा के द्वारा विवेक शक्ति का ह्रास होता है फलतः सुरा पायी नैतिक - औत्तिक में अन्तर न कर सकने के कारण प्रायः औत्तिकाचरण करता है । एक पाप से दूसरा पाप किस प्रकार जन्म लेता है यह द्यूत-क्रीडा के क्रम में स्पष्ट किया गया है । वहाँ बताया गया है कि जुआरी हारने पर ऋण लेता है तथा उसे न दे पाने के कारण चोरी भी करता है । इससे अतिरिक्त ऋग्वेद ने यह भी स्वीकार किया है कि मनुष्य के भीतर देवत्व के साथ ही राक्षसत्व भी विद्यमान हैं जो कभी-कभी शक्तिशाली होकर मनुष्यों को औत्तिकता के प्रति प्रेरित करता है ।

चरित्र एक तटस्थ संज्ञा है किन्तु अपने उत्तम पक्ष में यह सच्चरित्र तथा कुत्तित पक्ष में दुश्चरित्र कहलाता है । ऋग्वेद की दृष्टि में पुण्य चरित्र को अधिकाधिक विकसित करना है तथा पाप एक प्रकार का बन्धन है जो उसे पतित करता है । इस प्रकार पुण्य एवं पाप नैतिक-अनैतिक कर्तव्यों के फलस्वरूप उत्पन्न वह मानसिक शक्ति है जो मानव को उन्नत अथवा पतित करती है । सामान्यतया धर्म के अन्तर्गत पुण्य एवं पाप को अच्छे तथा बुरे कर्मों के परिणाम के रूप में समझा जाता है परन्तु नैतिक क्षेत्र में वे चरित्र के गुण अथवा अवगुण माने जाते हैं । अतः पाप अनैतिक कर्तव्य से अर्जित चारित्रिक दोष है तथा पुण्य नैतिक कर्तव्य से अर्जित चारित्रिक गुण ।

ऋग्वेद न केवल नीति-शास्त्र है न ही केवल धर्म शास्त्र । प्रत्युत वह दोनों को अपने अंग में सम्पुटित किये हुये है । उसमें इहलोक से लेकर परलोक तक की प्राप्ति के लिये कौन सा व्यवहार करणीय है, विवेचित हुआ है । नीति-शास्त्रियों ने धार्मिक समस्याओं का नीति में समावेश नहीं किया है एवं कृत्स्न धर्म-शास्त्रों ने नैतिक तत्त्वों की उपेक्षा की है, जिसके परिणाम स्वरूप नैतिक दृष्टि से कोई पाप धर्म की दृष्टि में पुण्य है एवं इसी प्रकार धार्मिक दृष्टि से कोई पाप नीति-शास्त्र के अनुकूल है । परन्तु ऋग्वेद में ये दोनों ही तत्त्व समान रूप से विद्यमान हैं । वह अनैतिकता को पाप एवं नैतिकता को पुण्य कहता है तथा पाप को अनैतिक एवं पुण्य को नैतिक । उसकी नीति अधिक सन्तुलित तथा समन्वय एवं सामंजस्य उत्पन्न करने वाली है । वह व्यक्ति के अन्तः पर अधिक बल देती है । उसका मत है कि यदि वैयक्तिक संकल्प, मन तथा हृदय अशुद्ध प्रतिक्रियाओं को उत्पन्न करते हैं तो उनसे ही अनैतिकता का जन्म होता है एवं वह अशुद्ध प्रतिक्रिया पाप है । इस प्रकार अन्तःकरण में निहित पाप की भावना अनैतिकता के जन्म का कारण बनती है । इसलिए ऋग्वेद नैतिकता के लिए चित्त की शुद्धता पर अधिक बल देता है । उसकी नीति बाह्यावरण से पूर्व आन्तर शुद्धता पर बल देती है । यह विचार से आचार की ओर उन्मुख होती है अर्थात् केन्द्र से परिधि की ओर । वैदिक नीति का सार यही है कि यदि व्यक्ति

का अन्तःस्मृत द्वारा संवाहित हो तो उसका बाह्याचरण स्वतः नैतिक होगा । पाश्चात्य नीति जहाँ बुरा करने को बुरा कहती है वहाँ वैदिक नीति बुरा सोचने को भी बुरा कहती है ।

पाश्चात्य नीति औत्तिकता के लिये न तो कोई दण्ड विधान का आयोजन करती है तथा न ही नैतिकता के लिये किसी पुरस्कार की व्यवस्था करती है । फलतः व्यक्ति स्वतन्त्र है कि वह नीति का पालन करे अथवा न करे । परन्तु ऋग्वेद इसका विरोधी है । उसकी मान्यता है कि यदि व्यक्ति को उसके कार्यों के अनुसार दण्डित न किया जाए तो वह उच्छृंखल हो जायेगा । उसकी इस धारणा से मनोवैज्ञानिक भी सहमत हैं कि व्यक्ति प्रेरणाओं के अभाव में कार्य नहीं करता । अतः दण्ड अथवा पुरस्कार के रूपमें वह प्रेरणाओं को रखता है ।

ऋग्वेद में वाचिक, कायिक तथा मानसिक तीनों प्रकार के पापों का वर्णन तथा उनसे सुरक्षित रहने का निर्देश है ।

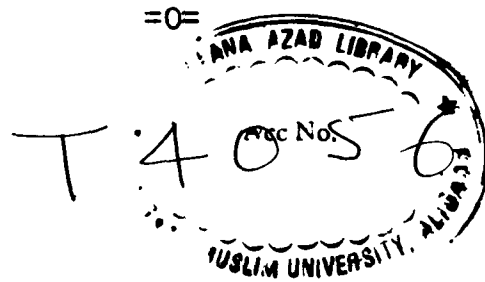
वह असत्य विचार अथवा व्यवहार दोनों ही को पाप की संज्ञा देता है । उसके मत में हृदय में विद्यमान विचारों से भिन्न व्यवहार करने वाले भी पापी है अर्थात् वह दोहरा व्यवहार करने वाले को पापी कहता है । किसी को शारीरिक कष्ट पहुँचाना तो समस्त नीति शास्त्रों में औत्तिक माना गया है परन्तु ऋग्वेद मानसिक आघात पहुँचाने वाले को भी औत्तिक कहता है । उसकी नीति की विशेषता यही है कि वह सूक्ष्मतम बातों तक का ध्यान रखती है । वह दुर्वचन, निन्दा, हिंसा, चोरी, द्वेष, कृपणता, लोभ, अज्ञान, कपट, अभिमान, नास्तिकता तथा राक्षसत्व को पाप मानकर इनके व्यवहार करने वाले को दण्डित करती है ।

उसका दण्ड वस्तुतः मनुष्यों के कर्मों का फल है । देवता किसी को अन्यथा कुछ नहीं देने, वे मनुष्यों के विचारों एवं व्यवहारों के अनुसार ही फल प्रदान करते हैं । औत्तिक अथवा पापी उनके दण्ड से पलायन नहीं कर सकता तथा नैतिक अथवा पुण्यशील उनकी कृपा से वंचित नहीं रह सकता ।



इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद का लक्ष्य मिथ्या के बदले सत्य को, निर्मृति के स्थान पर ऋत को एवं खण्डित तथा ससीम के बदले समग्र तथा असीम को लाकर मानवीय आत्मा को मृत्यु की अवस्था से अमरता की अवस्था में पहुँचा देना है । उसकी नीति का सारतत्त्व इस एक ऋचा में द्रष्टव्य है -

"विश्वानि देवसवितुर्दुरितानि परा सुव । यद्भद्रं तन्न आसुवः ॥"





# ऋग्वेद में नीति-तत्त्व

( अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ की पी-एच० डी०  
उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध )

ऋतस्य पन्था न तरन्ति दुष्कृतः

निर्देशक :

प्रो० सत्य प्रकाश सिंह  
एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०  
अध्यक्ष संस्कृत विभाग,  
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,  
अलीगढ़-२०२००२



शोध कर्ता :

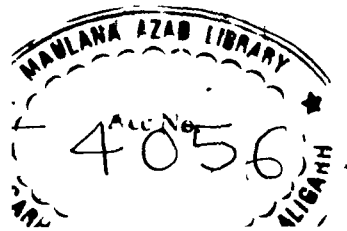
खालिद बिन यूसुफ खाँ  
एम० ए०, एम० फिल०

1989

संस्कृत विभाग,  
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,  
अलीगढ़-202002



T4056





### आभार प्रदर्शन =====

भौतिक पदार्थों के प्रति अत्यधिक लालसा ने आज मानवता को विनाश के मुख पर ला खड़ा किया है। मनुष्य का रक्त देश, धर्म, जाति तथा रंग-भेद के आधार पर निर्ममता से बहाया जा रहा है। ऐसी विषम परिस्थिति में जबकि चारों ओर औत्कित्य का गहनतम आच्छादित है ऋग्वेद के ज्योतिष नैतिक सिद्धान्त उपादेय हैं। ये सिद्धान्त 'ऋत चित्त' से उद्भूत हैं, जिसमें समस्त मानवता का कल्याण निहित है।

ऋग्वेद केवल पाप और पुण्य अथवा नैतिकतम औत्कित्य के आधार पर मनुष्यों में भेद करता है अन्यथा उसकी दृष्टि में समस्त मानव समान है। इसका लक्ष्य संसार से घृणा, हिंसा, पाप, औत्कित्य आदि को हटा कर उसके स्थान पर प्रेम, अहिंसा, पुण्य तथा नैतिकता आदि को लाना है।

मैंने ऋग्वेद की इसी व्यापक दृष्टि को आत्मसात् करने तथा इसके नैतिक सिद्धान्तों को सर्व सुलभ बनाने के लिये शोध-कार्य करने का निश्चय किया था। इस शोध कार्य के प्रणयन तथा मेरे व्यक्तित्व के निर्माण में आदरणीय गुरुवर प्रो० एस०पी० सिंह का अव्याहत योगदान रहा है, जिसे कि मैं जीवन पर्यन्त उद्धृण नहीं हो सकूँगा। यदि वैदिक ऋषियों के समक्ष दिव्य-जीवन आदर्श के रूप में उपस्थित था तो मेरे लिये साक्षात् आर्ष चेतना से सम्पन्न आदरणीय गुरुवर का व्यक्तित्व आदर्श के रूप में विद्यमान है। अतः मैं इनका तथा स्नेहमयी गुरुमाता श्रीमती पार्वती देवी के प्रति कृतज्ञता एवं आभार प्रकट करना अपना परम कर्तव्य समझता हूँ। मैं विभागीय गुरु डा० एस०आर० शर्मा साहब का भी

आभारी हूँ जिन्होंने अपने सत्परामर्शों के द्वारा इस शोध कार्य में सहायता प्रदान की है ।

मेरे ज्येष्ठ भाई श्री ज़ैनुल आबिदीन तथा श्री शम्स यूसुफ़ ने अपने प्रेमसिक्त व्यवहार से मुझे जीवन में एकाकीपन का कभी बोध नहीं होने दिया । उनकी इसी प्रेमधारा के अजस्र प्रवाह में भाव्नी श्रीमती किशवर आबिदीन तथा श्रीमती शहनाज़ शम्स ने भी अपना स्नेह मिश्रित किया है, जिससे सिंचित मेरा जीवन आज पल्लवित है । अतः मैं इन सबका नमन करता हूँ । अपनी बहिन शमीम, नसीम, तस्नीम तथा रूक़ैया का मैं श्रेणी हूँ जिनके स्नेह से मेरे व्यक्तित्व का दीपक दुःखों की तमिझा एवं संघर्षों के झंझावात में भी प्रज्वलित है । मैं बहनोई श्री कमाल साबिर खाँ तथा डा० ए०यू० खाँ का भी आभारी हूँ जिन्होंने अपने संरक्षण से मुझे कभी वंचित नहीं किया । नाना मुहम्मद यह्या खाँ, नानी श्रीमती नज्मुन्निसा तथा मामा डा० अफ़ग़ान उल्लाह खाँ के प्रति मैं नमन करता हूँ जो कि मेरे जीवन की आधार शिला हैं। मैं इस अवसर पर अपने भतीजे साकिब को कैसे विस्मृत कर सकता हूँ जिन्होंने मेरे भोजन की व्यवस्था करके शोध प्रबन्ध के लेखन को निर्बाध बनाया । इस लेखन काल में आगत भाई श्री आई०ए० ख़ान का मैं आभारी हूँ जिन्होंने मुझे शोध कार्य के प्रति निरन्तर प्रोत्साहित किया ।

मेरे परम प्रिय मित्र डा० मसरूर अली खाँ, श्री अख़्तर अहमद, श्री अक़्बर हुसैन, श्री ओ०पी० शर्मा, डा० मुहम्मद ईसा गोहर तथा डा० मज़हर अब्बास धन्यवाद के पात्र हैं जिनकी सहायता मेरे शोध कार्य को सहज बनाने में उपयोगी सिद्ध हुई है । 'भर्तृहरि' द्वारा प्रस्तुत मित्रता की परिभाषा पर उत्तीर्ण श्री मुहम्मद इलियास 'नवेद गुन्नौरी' का भी मैं आभारी हूँ, जिन्होंने मेरा सदैव उत्साह वर्धन किया है ।

इनके अतिरिक्त मैं राक़िम भाई की ग्रन्थालय सम्बन्धी एवं श्री मुरारी लाल कुशवाह की टंकण सम्बन्धी सहायताओं के प्रति आभार प्रकट

करता हूँ जिन्होंने अपनी तत्परता से शोध ग्रन्थ के प्रणयन में समस्त बाधाओं को पृथक् किया ।

अन्त में यदि मैं श्रद्धेया श्रीमती सादिका, बहिन तुल्य अरशिया तथा भाई तुल्य अरशद का उल्लेख न करूँ तो यह उनके प्रति अन्याय होगा क्योंकि इनके निश्छल प्रेम मेरे लिये नैवेद्य सिद्ध हुए हैं, विशेष कर मैं अरशिया की उन नैतिक भावनाओं की स्तुति करता हूँ जो मुझे प्रगति के उन्नत शिखर पर देखने के लिये लालायित है ।

इस शोध प्रबन्ध के प्रणयन में जिन महानुभावों के ग्रन्थों से मुझे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सहायता प्राप्त हुई उन विद्वज्जनों का मैं श्रेणी हूँ ।

२१-६-८१

विद्वज्जन् कृपाकांक्षी  
खालिद बिन यूसुफ खाँ

१०. पापन्निवारयति योज्यते हिताय गुह्यं निगूहति गुणान् प्रकटी करोति ।

आपद्गतं च न जहाति ददाति काले सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः ॥

### आमुख =====

मेरे लिये यह परम सौभाग्य की बात है कि विश्व के प्राचीनतम अपौरुषेय ग्रन्थ ऋग्वेद पर मुझे शोध करने का अवसर प्राप्त हुआ । मैंने ऋग्वेद का सर्व प्रथम अध्ययन स्नातक स्तर पर किया था उसी समय मेरे मन में इस पर शोध करने का विचार आया था । मेरे उस धूमिल विचार को आदरणीय गुरुवर प्रो० एस०पी० सिंह साहब ने अपने प्रोत्साहन से दृढ़ निश्चय में परिणत कर दिया । जिसके परिणाम स्वरूप यह शोध ग्रन्थ प्रस्तुत है ।

स्नातकोत्तर<sup>स्तर</sup> पर जब मैंने वैदिक वाङ्मय से सम्बन्धित पाश्चात्य विद्वानों की पुस्तकों का अध्ययन किया तो मैं बहुत खिन्न हुआ, क्योंकि वे इसे आदिम मनुष्यों के गीत अथवा वरवाहों का गान कहते हैं । वे इसमें नैतिकता जैसे तत्त्व की गवेषणा को आकाश-पुष्प के तुल्य मानते हैं । परन्तु मैंने जब स्वयं ऋग्वेद रूपी ज्ञान सागर में अवगाहन किया तो मेरी समस्त पूर्ववर्ती समस्याएँ समाहित हो गईं । वैदिक ज्ञान सागर में नैतिकता के निस्सीम माणिक्य हैं । मैं ससीम मानव अपनी बुद्धि रूपी मंजूषा में उन्हें कितना एकत्रित करता ? अतः सम्भव है कि मेरी यह विवशता इस शोध-कार्य में भी बाधा बनी हो, किन्तु मैंने जितने भी नैतिकता के माणिक्य प्रस्तुत किये हैं वे समस्त मानवता के कल्याण के लिये उपयोगी तथा अनुपम हैं ।

ऋत पर आधारित ऋग्वेद की नैतिकता के समक्ष परिवर्तन पर आधुनिक आधुनिक नीति विज्ञान अभी शिशुवत् है । ऋग्वेद का लक्ष्य मनुष्य को



संकीर्णता से विस्तार की ओर, पाप से पुण्य की ओर, अनेतिकता से नैतिकता की ओर तथा मनुष्यत्व से देवत्व की ओर ले जाना है ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को सात अध्यायों में विभक्त किया गया है । प्रथम अध्याय में नीति सम्बन्धी भारतीय एवं पाश्चात्य मतों का तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है । द्वितीय अध्याय में ऋग्वेद की नैतिकता के आधार भूत तत्त्व ऋत पर विचार किया गया है तथा अनेतिकता की मूल निर्मिति एवं उससे उत्पन्न समस्याओं पर भी प्रकाश डाला गया है । तृतीय अध्याय में यह बताया गया है कि निर्मिति किन-किन रूपों में उपस्थित होकर मनुष्यों को अनेतिकता के लिये बाध्य करती है अर्थात् मनुष्य के अनेतिक आचरण के कारणों पर प्रकाश डाला गया है । चतुर्थ अध्याय में कर्म के स्वरूप एवं कर्त्ता की स्वतन्त्रता तथा परतन्त्रता पर विचार किया गया है । पंचम अध्याय में नैतिकता के दिव्य आदर्श का उल्लेख है । इसमें देवताओं के नैतिक आचरण को मनुष्यों के लिये अनुकरणीय एवं उपादेय बताया गया है । षष्ठ अध्याय में उन ऋषियों की नैतिकता का वर्णन है जिन्होंने ऋत के नियम को अपने जीवन में उतारा था तथा जो मनुष्यों को देवत्व तक ले जाने का मार्ग निर्देशन करते हैं । अन्तिम अध्याय में अनेतिक आचरण को पाप बताकर उसके परिणाम स्वरूप प्राप्त होने वाले दण्ड का विवरण है ।

इस शोध कार्य में मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक तथा तुलनात्मक पद्धति का आश्रय लिया गया है । अध्यायों को अन्य उपशीर्षकों के अन्तर्गत वर्गीकृत करके उस पर विस्तार से विचार किया गया है । प्रत्येक अध्याय के अन्त में उसका निष्कर्ष दे देने के कारण उपसंहार को शोध प्रबन्ध में स्थान नहीं दिया गया है । अन्त में सहायक ग्रन्थों की सूची भी दी गई है । पारिभाषिक शब्दावली का अंग्रेजी अनुवाद भी सुविधार्थ कोष्ठक में दे दिया गया है ।

## विषयानुक्रमिका

पृष्ठ संख्या

आभार प्रदर्शन

आमुख

विषयानुक्रमिका

### प्रथम अध्याय 1. आचार शास्त्र की स्वरूप-मीमांसा

- 1.1. आचार शास्त्र - एक परिचय
- 1.2. नीति
- 1.2.1. भारतीय नीति
- 1.2.1.1. पाश्चात्य नीति
- 1.3. आचार शास्त्र का लक्ष्य
- 1.4. धर्म एवं नीति
- निष्कर्ष

### द्वितीय अध्याय 2. वैदिक नीति का आधार भूत तत्त्व-श्रुत

- 2.1. श्रुत की व्युत्पत्ति एवं परिभाषा
- 2.1.2. श्रुत का मूल स्थास एवं स्वरूप
- 2.2. श्रुत का अभाव - निर्गति
- 2.2.1. स्वप्न मीमांसा

- 2.3. श्रुत के अभाव का परिणाम-मनोदैहिक रोग
  - 2.3.1. मनोदैहिक रोग
  - 2.3.2. व्यक्तित्व परिच्छेदिका सिद्धान्त
  - 2.3.3. स्वायत्तता सम्बन्धी अधिगम सिद्धान्त
  - 2.3.4. उद्दीपन-परिस्थिति सिद्धान्त
- निष्कर्ष

### तृतीय अध्याय    3. अैत्तिक आवरण के कारण

- 3.1. वैदिक मत
  - 3.1.1. इच्छा शक्ति
  - 3.1.2. सुरा पान
  - 3.1.3. घृत क्रीडा
  - 3.1.4. अज्ञान
  - 3.1.5. दुर्बलताएँ
  - 3.2. नीति शास्त्रियों का मत
  - 3.3. मनोवैज्ञानिकों का मत
- निष्कर्ष

### चतुर्थ अध्याय    4. नीति और कर्म-सिद्धान्त

- 4.1. कर्म का स्वरूप
- 4.1.1. कर्म-सिद्धि के कारण
- 4.2. कर्त्ता
- 4.2.1. कर्त्ता की स्वतन्त्रता
- 4.2.2. कर्त्ता की परतन्त्रता
- 4.3. कर्म के प्रकार

- 4.4. कर्म के प्रभाव
- 4.4.1. कर्त्ता के व्यक्तिगत जीवन पर
- 4.4.1.1. नैतिक कर्म
- 4.4.1.2. अनैतिक कर्म
- 4.4.2. अन्यकृत कर्मों का प्रभाव अन्य पर
- 4.5. महायज्ञ
- निष्कर्ष

## पंचम अध्याय 5. नैतिकता के दिव्य आदर्श =====

- 5.1. दान
- 5.2. निन्दा, कृपणता तथा अहंकार
- 5.3. मधुर वचन
- 5.4. व्याज
- 5.5. शृण
- 5.6. उपचार
- 5.7. सृष्टि
- 5.8. संरक्षा
- 5.9. अभिवार
- 5.10. नीति स्थापना
- 5.11. साम्य दृष्टि
- निष्कर्ष

## षष्ठ अध्याय      6. नैतिकता के आर्ष आदर्श =====

- 6.1.      त्याज्य
- 6.1.1.   पाप
- 6.1.2.   पाप के क्षेत्र
- 6.1.3.   पापी
- 6.1.4.   द्रोह एवं असत्य
- 6.1.5.   चोरी
- 6.1.6.   अपयश
- 6.1.7.   अज्ञान
- 6.2.      स्पृहणीय
- 6.2.1.   निष्पापत्व
- 6.2.2.   पाप मुक्ति के उपाय
- 6.2.3.   आदर्श जीवन
- 6.2.4.   ज्ञान
- 6.2.5.   मधुर वाणी
- 6.2.6.   शक्ति
- 6.3.      करणीय
- 6.3.1.   अनावार की समाप्ति
- 6.3.2.   दान
- 6.3.3.   सत्यवादिता
- 6.3.4.   विनय
- 6.3.5.   अतिथि सेवा
- 6.3.6.   लक्ष्य
- निष्कर्ष

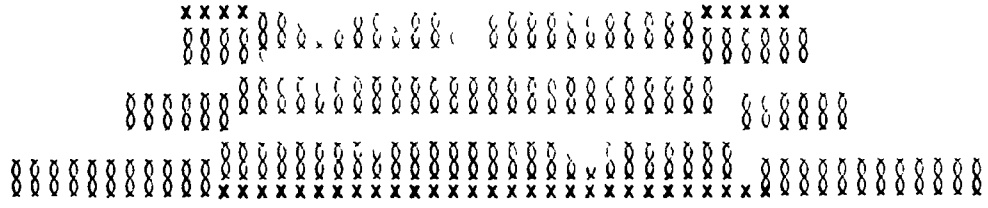
सप्तम अध्याय ७. पाप और दण्ड विधान  
=====

- ७.१. कायिक पाप
  - ७.१.१. असत्य
  - ७.१.२. मिथ्यारोप
  - ७.१.३. दुर्वचन
  - ७.१.४. दोहरा व्यवहार
  - ७.१.५. निन्दा
- ७.२. कायिक पाप
  - ७.२.१. दुराचार
  - ७.२.२. द्रोह
  - ७.२.३. हिंसा
  - ७.२.४. राक्षसत्व
  - ७.२.५. वीरि
- ७.३. मानस्विक पाप
  - ७.३.१. दुर्बुद्धि
  - ७.३.२. द्वेष
  - ७.३.३. कृपणता, लोभ तथा अज्ञान
  - ७.३.४. परिग्रह
  - ७.३.५. कपट
  - ७.३.६. अभिमान
  - ७.३.७. नास्तिकता

निष्कर्ष

परिशिष्ट  
=====

- सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- मौलिक साहित्य
- शोध साहित्य
- आनुषंगिक साहित्य
- ऑनलाइन साहित्य



## प्रथम अध्याय

=====

### आचार शास्त्र की स्वरूप - मीमांसा

---

1.1. आचार शास्त्र- एक परिचय

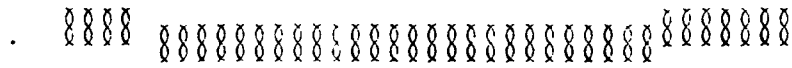
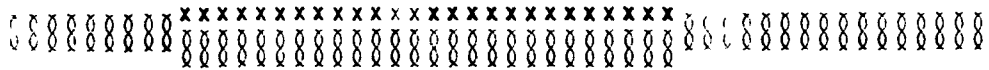
1.2. नीति

1.2.1. भारतीय नीति

1.2.1.1. पाश्चात्य नीति

1.3. आचार शास्त्र का लक्ष्य

1.4. धर्म एवं नीति



## प्रथम अध्याय

=====

### आचार शास्त्र की स्वरूप-मीमांसा

=====

#### 1.1. आचार शास्त्र: एक परिचय

वेद धर्म का मूल है । इसी से बाद के अनेक दर्शन, विभिन्न मत एवं सम्प्रदाय, सामाजिक आदर्श, आर्थिक एवं राजनैतिक विचारधाराएँ तथा साहित्य निष्पन्न हुए हैं । परन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने इसे नीति से रहित मानकर इसके एकांगी पक्ष को ही प्रस्तुत किया है । उनका यह दृष्टिकोण वास्तविकता से बहुत कुछ दूर है ।

कीथ महोदय भारतीय दर्शन को प्रायः सदाचार से रहित मानते हैं ।<sup>1</sup> वेद के प्रति लुई रेनु ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं: "हमें उन व्यक्तियों पर भी विचार करना है जो कि विप्र अथवा कवि न होकर साधारण जन थे, उनकी इच्छाएँ क्या थीं ? वास्तव में वे भौतिक वस्तुओं की ही इच्छाएँ करते थे - धन, पुत्र, स्वास्थ्य इत्यादि । वैदिक आचार-शास्त्र इसी सरल महत्त्वाकांक्षा पर आधारित है ।"<sup>2</sup> विन्टरनिज<sup>3</sup>

---

1. वैदिक धर्म एवं दर्शन, पृ० 583, अ० डा० सूर्यकान्त

2. रिलीजन्स ऑफ़ इन्डियन ईडिया, पृ० 27

3. प्राचीन भारतीय साहित्य, अ० लाजपत राय §प्र० भा०४, पृ० १०



महोदय ऋग्वेद को कुछ भी मानने को उद्यत है परन्तु इसे वे "नीति-रत्न-माला" कदापि नहीं मान सकते । इस प्रकार विद्वानों के लिए वेद प्रायः विवादास्पद रहा है । परन्तु निःसर्कोच भाव से यह कहा जा सकता है कि वेद धर्म के साथ-साथ भारतीय नीति का प्राचीनतम ग्रंथ है । वैदिक युग के जीवन का उद्देश्य सुख तथा ऐश्वर्य था । इस युग में जीवन को समग्र रूप में ग्रहण करने की प्रवृत्ति थी । इसकी शिक्षाएँ अत्यंत व्यापक एवं सार्थक हैं । जीवन के प्रत्येक पक्ष से संबंधित बातें वेदों के अध्ययन से ज्ञात होती हैं तथा इसमें संदेह नहीं कि इन शिक्षाओं पर चलकर एवं इनका पालन करके लौकिक एवं आत्मिक सुखों की प्राप्ति की जा सकती है तथा एक आदर्श जीवन व्यतीत किया जा सकता है - वह जीवन जो सर्वथा मनुष्योचित एवं वास्तविक अर्थों में मानवधर्मी कहा जा सकता है ।

संसार में जितनी भी ज्ञान की धाराएँ हैं, वे किसी न किसी रूप में आचार अथवा विचार अथवा दोनों से ही सम्बद्ध हैं । व्यक्तित्व के विकास हेतु विचार के साथ आचार को भी गति प्रदान करना आवश्यक है । विचारों अथवा आदर्शों का व्यावहारिक रूप आचार है । आचार की आधारशिला नैतिकता है । समाज में धर्म की प्रतिष्ठा इसी कारण है कि वह नैतिकता पर प्रतिष्ठित है । मनु ने वेद, स्मृति तथा सदाचार को नैतिकता का आधार एवं अंतरात्मा के भाव अथवा विचार को चौथा प्रमाण स्वीकार किया है ।<sup>1</sup>

---

1. वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।

एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षात् धर्मस्य लक्षणम् ॥

मनुस्मृति, 2/12

अतः आचार शास्त्र के साथ ही साथ नीति पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है । इस प्रसंग में भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के नीति संबंधी विचारों का उल्लेख उपादेय होगा ।

### 1.2. नीति:

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । समाज में व्यवस्था बनाये रखने के लिये तथा उसको उच्छृंखल अथवा मर्यादाहीन होने से बचाये रखने के लिये, विद्वानों ने अपने अनुभव तथा ज्ञान के आधार पर कुछ नियम निर्धारित किये हैं । हम अपने चारों ओर रहने वाले मनुष्यों तथा इतर प्राणियों के संग किस प्रकार व्यवहार करें कि वह 'उचित' हो - 'ठीक' हो तथा 'सदाचार' की संज्ञा के योग्य हो । जिस शास्त्र में आचरण संबंधी इन नियमों का विवेकन किया जाता है उसे 'आचार - शास्त्र' कहते हैं । इसे 'नीति शास्त्र' तथा 'व्यवहार शास्त्र' भी कहा जाता है ।<sup>1</sup> नीति शास्त्र सत्य, हित तथा परिणाम में सुख देने वाली बातों का वर्णन करता है ।<sup>2</sup> समस्त लोक-व्यवहार की स्थिति बिना नीतिशास्त्र के उसी प्रकार नहीं हो सकती जिस प्रकार देहधारियों की स्थिति भोजन के बिना नहीं हो सकती ।<sup>3</sup>

वस्तुतः मानव ही नहीं अपितु प्राणिमात्र की एकता का ज्ञान ही सदाचार का आधार है । जिन इच्छाओं अथवा जिन विचारों तथा कार्यों

1. मोहन वल्लभ पंत, सदाचार सोपान, पृ० 11

2. ब्रह्म वैवर्त पुराण, 115/13

3. सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृन्नीति शास्त्रकम् ।

धर्मार्थकाममूल हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः ॥ शुक्लनीति, 1/2

से प्राणियों को स्पष्ट पहुँचता है, जिसे समाज में एकता स्थापित होती है, उन्हीं को सत्कार्य, पुण्य अथवा सदावरण कहते हैं। समाज में आचार-व्यवहार संबंधी अनेक प्रकार के नियम प्रचलित हैं। ये नियम समाज की परम्परागत रूढ़ियों के द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक जाते हैं। नैतिक आचरण करने की शक्ति मानव-समाज में पहले आती है तथा नैतिक नियमों पर दार्शनिक विचार करने की शक्ति बाद में। नीति शास्त्र यह निर्णय करता है कि समाज में प्रचलित नैतिक नियम कहाँ तक मनुष्य के जीवन के सर्वोच्च आदर्श को प्राप्त करने में सहायक हो सकते हैं। यह शास्त्र उस मापदण्ड की खोज करता है जिसके द्वारा आचरण के नियमों की परख की जाती है।<sup>1</sup> नीति के द्वारा यथार्थ विषय का अर्थात् कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान हो जाता है।<sup>2</sup> 'आचार शास्त्र' पद दो शब्दों से निर्मित हुआ है - 'आचार' तथा 'शास्त्र'। 'शास्त्र' शब्द शास् धातु, ॥शिष्यते अनेन इति शास्त्र॥ के साथ ष्ट्व प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है। इस धातु का अर्थ है शिक्षा देना, आज्ञा देना, शासन करना, दण्ड देना इत्यादि।<sup>3</sup> 'आचार' शब्द आ उपसर्ग पूर्वक चर् धातु में षप् प्रत्यय के योग से सम्पन्न हुआ है। चर् धातु का अर्थ जाना, खाना इत्यादि है।<sup>4</sup>

अतः 'शास्त्र' वह ग्रंथ अथवा ज्ञान की विधा है, जिसे किसी वस्तु के संबंध में इस प्रकार की शिक्षा प्राप्त हो जिसके द्वारा जीवन तथा विश्व की वस्तुओं का नियंत्रण अथवा नियमन हो सके। डा० भीखन लाल आत्रेय के

1. लाल जी राम शुक्ल, नीतिशास्त्र, पृ० 1

2. नीतिर्यथावस्थितमर्थमुपलभ्यति । नीतिवाक्यामृतम् 10/61

3. सम्पादक-चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा, संस्कृत शब्दार्थ कोस्तुभ, पृ० 1151

4. वही, पृ० 178

अनुसार 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग भारतवर्ष में उस ज्ञान के लिए किया जाता है जो विज्ञान की भाँति साधारण ज्ञान से अधिक गहरा, निश्चित तथा सर्वव्यापी ज्ञान देता है। विज्ञान का आधार जहाँ निरीक्षण एवं प्रयोग है वहीं शास्त्र का आधार ऋषियों का समाधिगत अनुभव अथवा योग है।<sup>1</sup> आचार-शास्त्र वह विज्ञान है, जिसमें मानव आचरण के आदर्श की मीमांसा होती है, जिसे मनुष्य का कर्तव्याकर्तव्य तथा उसके कर्मों के औचित्य - अनौचित्य का ठीक-ठीक निर्णय किया जा सके।<sup>2</sup>

वास्तव में नीति शास्त्र का संबंध नैतिक जीवन की समस्याओं से है, जबकि नैतिक जीवन का इतिहास मानव की संस्कृति से आरम्भ होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से पश्चिम में मिस्र तथा यूनान तथा पूर्व में भारत एवं चीन की संस्कृति प्राचीनतम है परन्तु हॉपकिन्स ने भारतीय नीति-विज्ञान को ही प्राचीनतम माना है।<sup>3</sup>

#### 1.2.1. भारतीय नीति:

इस प्रसंग में 'नीति' अथवा 'आचार' के प्रति कतिपय विद्वानों के मतों को प्रस्तुत करना उपयोगी होगा। इस क्रम में सर्व प्रथम भारतीय विचारकों के विचार द्रष्टव्य हैं :

1- श्री सोमदेव सूरि के अनुसार 'तंत्र' तथा 'अवाप' का नाम

1. भारतीय नीतिशास्त्र, पृ० 3

2. अशोक कुमार वर्मा, प्रारम्भिक आचारशास्त्र, पृ० 3

3. डा० दिवाकर पाठक, भारतीय नीतिशास्त्र, पृ० 4

नीतिशास्त्र है। अपने मण्डल अथवा राज्य की सुरक्षा तथा पालन-पोषण की योजना बनाना 'नीति' है एवं अन्य मण्डल अथवा राज्य प्राप्ति के निमित्त सन्धि-विग्रहादि की योजना 'आवाप' है।<sup>1</sup>

2- डा० राधाकृष्णन् का मत है कि 'मोक्ष नैतिक व्यक्तिमत्ता से आध्यात्मिक सर्वव्यापकता तक उठने का ही नाम है, अतः मोक्ष रूपी साध्य के लिए नीति रूपी साधन आवश्यक है।'<sup>2</sup>

3- श्री मानवेन्द्रनाथ राय के अनुसार नैतिकता मनुष्य के स्वभाव में ही अन्निहित होती है, क्योंकि वह विवेक्षणीय होती है।<sup>3</sup>

4- श्री अरविन्द के अनुसार नीति और दर्शन का एक मात्र उद्देश्य पूर्णत्व की प्राप्ति है।<sup>4</sup>

उपर्युक्त विचारकों के मत के अतिरिक्त भारतीय दर्शन में आचार एवं विचार की स्थिति कुछ इस प्रकार है। मीमांसा-परम्परा का एक पक्ष पूर्वमीमांसा आचार प्रधान है जबकि दूसरा पक्ष उत्तरमीमांसा विचार प्रधान है। सांख्य तथा योग क्रमशः विचार एवं आचार का प्रतिपादन करने वाले एक ही परम्परा की दो धाराएँ हैं। बौद्ध परम्परा में हीनयान तथा महायान के रूप में आचार तथा विचार की दो धाराएँ हैं। हीनयान आचार प्रधान है तथा महायान विचार प्रधान। जैन-परम्परा में भी आचार और विचार को समान

1. नीतिवाक्यामृत 30/45, 46, 47

2. डा० दिवाकर पाठक, भारतीय नीतिशास्त्र, पृ० 4

3. वही, पृ० 163

4. वही, पृ० 134

स्थान दिया<sup>3</sup> है। अहिंसामूलक आचार एवं अनेकात्मक मूलक विचार का प्रतिपादन जैन विचार-धारा की विशिष्टता है।<sup>1</sup>

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि भारतीय नीतिशास्त्र व्यवहारिक उद्देश्यों की पूर्ति तथा जीवन के दुःख की निवृत्ति को अपना लक्ष्य बनाती है। सभी परम्परागत चिन्तक अज्ञान को बन्धन का कारण मानते हैं। वास्तव में आचार-शास्त्र उसे कहते हैं, जिसमें समस्त जीवन को नियंत्रित करने का प्रावधान हो।

#### 1.2.11. पाश्चात्य नीति:

इस संबंध में पाश्चात्य विचारकों के दृष्टिकोण निम्नलिखित हैं :

1- हार्टमैन का कथन है कि 'नीतिविज्ञान नैतिक चेतना में निहित सत्यों को व्यक्त करने वाला विज्ञान है।'<sup>2</sup>

2- सिजविक ने नीतिशास्त्र को नियमित मानवीय आचरण की चरम समस्याओं का क्रमिक अध्ययन कहा है।<sup>3</sup>

3- मैकेन्जी के अनुसार आचार-विज्ञान मानवीय जीवन में उपस्थित आदर्श का विज्ञान एवं सामान्य विज्ञान है।<sup>4</sup>

1. डा० मोहन लाल मेहता, जैन आचार, पृ० 8

2. डा० लक्ष्मी सक्सेना, नीतिविज्ञान के मूल सिद्धान्त, पृ० 4

3. डा० दिवाकर पाठक, भारतीय नीतिशास्त्र, पृ० 1

4. वही,

4- रैशडल के विचार में नीतिशास्त्र शुभ तथा अशुभ का वह सिद्धान्त है, जिसका लक्ष्य मानव मात्र का कल्याण है ।<sup>1</sup>

5- बर्गसाँ ने यह स्वीकार किया है कि 'प्रथम कोटि की नैतिकता सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति में निहित है तथा दूसरी कोटि की नैतिकता मनुष्य की प्रतिभा एवं उसकी अंतर्दृष्टि में अभिव्यक्त होती है ।<sup>2</sup>

6- अर्बन के विचार इस प्रकार हैं : 'नीतिविज्ञान उन आधारभूत, अनुभव-निरपेक्ष, प्रागनुभविक सिद्धान्तों से संबंधित विज्ञान है, जो मानवीय नैतिक चेतना के स्वरूप पर आलोचनात्मक अनुचिन्तन द्वारा प्राप्त होते हैं ।'<sup>3</sup>

7- काण्ट मानते हैं कि 'किसी कर्म का नैतिक मूल्य उसके परिणाम पर निर्भर नहीं है । परिणामों से प्रेरणा प्राप्त करने वाला कर्म-सिद्धान्त कभी भी नैतिक कर्म का आधार नहीं बन सकता है । केवल बौद्धिक संकल्प में ही सर्वोच्च तथा निरपेक्ष शुभ की प्राप्ति संभव है । अतः संकल्प-स्वातंत्र्य के शास्त्र को नीतिशास्त्र कहा जा सकता है ।'<sup>4</sup>

8- जान लॉक का मत है कि कोई ऐसा आचार-सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता जिसे अखिल संसार में लोग एक रूप से सत्य मानें । अतः नीति-शास्त्र देश-काल से परिवेष्टित नियमों की श्रृंखला है ।<sup>5</sup>

1. डा० दिवाकर पाठक, भारतीय नीतिशास्त्र, पृ० 2

2. वही, पृ० 151

3. डा० लक्ष्मी सक्सेना, नीतिविज्ञान के मूल सिद्धान्त, पृ० 3

4. डा० छाया राय, काण्ट का नीति-दर्शन, पृ० 16

5. डा० याकुब मसीह, पाश्चात्य आधुनिक दर्शन की समीक्षात्मक व्याख्या, पृ० 122

अतः स्पष्ट है कि पाश्चात्य नीतिशास्त्र की समस्याओं का मुख्य प्रयोजन ऐहिक जीवन की व्यावहारिक समस्याएँ हैं, जबकि भारतीय नीतिशास्त्र का अधिकांश सम्बन्ध पारमार्थिक चिन्तन से रहा है। तुलनात्मक दृष्टि से भारतीय नीतिशास्त्र उपदेशात्मक अधिक है। पाश्चात्य नीति-शास्त्र में धार्मिक समस्याओं को नैतिक प्रश्नों से अलग रखा गया है तथा यथा सम्भव नीति को वैज्ञानिक एवं नार्किक विधि द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। पाश्चात्य चिन्तक नैतिकतावादी और नैतिक दार्शनिक में अन्तर करते हैं। इन लोगों के अनुसार नीति-शास्त्र से किसी चारित्रिक निर्देश की अपेक्षा करना व्यर्थ है। चारित्रिक निर्देश देना तो उपदेशक का कार्य है न कि नैतिक-दार्शनिक का। नैतिक दार्शनिक तो केवल नैतिक प्रत्ययों का विश्लेषण करता है, न कि चारित्रिक एवं आदर्श संबंधी निर्देशन का कार्य।

नीति के संबंध में पाश्चात्य विद्वानों के मतों का निम्न प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है :

- ॥क॥ पूर्णतावाद । ॥ Eudae monism ॥
- ॥ख॥ विधिवाद ।
- ॥ग॥ प्रयोजनवाद ।
- ॥घ॥ बुद्धिवाद । ॥ Rationalism ॥
- ॥च॥ अन्तः प्रज्ञावाद । ॥ Intuitionism ॥
- ॥छ॥ नैतिक संवित्तिवाद । ॥ Moral Sense theory ॥
- ॥ज॥ मनोवैज्ञानिक सुखवाद ।
- ॥झ॥ विकासवादी सुखवाद ।
- ॥ट॥ आदर्श उपयोगितावाद । ॥ Ideal utilitarianism ॥



### ॥क॥ पूर्णतावादः

‘पूर्णतावाद’ अथवा ‘आत्मोत्कर्षवाद’ वह सिद्धान्त है जो यह विश्वास करता है कि सम्पूर्ण आत्मा की अभिव्यक्ति ही यथार्थ में हमारे नैतिक प्रयासों का चरम लक्ष्य है। सम्पूर्ण आत्मा से उसका तात्पर्य उस नाटित्वक व्यक्तित्व से है जो हमारे व्यावहारिक व्यक्तित्व में आवृत्त रहता है तथा जिसकी अभिव्यक्ति के लिए सवेतन प्रयासों द्वारा हम सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। इसके अनुसार मानवीय जीवन का चरम लक्ष्य आनन्द की उपलब्धि है न कि सुख की।<sup>1</sup> ग्रीन<sup>2</sup> का कथन है कि ‘वही कार्य यथार्थ में नैतिक है जो कर्त्ता को अंतिम रूप से संतुष्ट कर सके तथा जो ऐसा न कर सके वह अनैतिक है।’

### ॥ख॥ विधिवादः

इस मत के अनुसार ‘चाहिए’ §must § शब्द मानवीय संकल्प के बाह्य नियंत्रण का सूचक है। यह नियंत्रण प्रतिबंधों के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। इसके अंतर्गत नैतिक प्रतिमान जिसकी ‘बाह्यता’ की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति ‘चाहिए’ शब्द द्वारा की जाती है केवल एक बाह्य नियम के रूप में प्रस्तुत किया गया है।<sup>3</sup>

### ॥ग॥ प्रयोजनवादः

इसके अनुसार प्रत्येक नियम साधन रूप में ही महत्त्वपूर्ण है,

1. डा० लक्ष्मी सक्सेना, नीति विज्ञान के मूल सिद्धान्त, पृ० 231.

2. वही, पृ० 236

3. वही, पृ० 7

साध्य पद पर आसीन होने के लिए वह सर्वथा अयोग्य है ।<sup>1</sup>

### ॥घ॥ बुद्धिवादः

इस मतानुसार नैतिक आदेश का संबंध संवेदन शक्ति से पृथक् मानव व्यक्तित्व के बौद्धिक तत्त्व से है । काण्ट ने किसी कर्म का नैतिक गुण अथवा मूल्य उस कर्म में ही अन्तर्भूत बताया है । कर्म के परिणाम पर उसका मूल्य निर्भर नहीं करता । मनुष्य में दो तत्त्व हैं - विवेक तथा भावनाएँ । इच्छा, काम व क्रोधादि भावनाओं के ही रूप हैं । परन्तु बुद्धि अथवा विवेक का मनुष्य के स्वभाव में अति महत्त्वपूर्ण स्थान है । यही शक्ति है जिस पर नैतिकता की सम्पूर्ण भित्ति आश्रित है । मनुष्य से यदि विवेक-शक्ति को हटा लिया जाय तो नैतिकता विलुप्त हो जायेगी । अतः विवेक के आदेश ही नैतिक नियम हैं । क्योंकि बुद्धि के आदेश ही नैतिक नियम हैं एवं बुद्धि समस्त मनुष्यों में सामान्य है, अतः नैतिक नियम भी सामान्य एवं सार्वभौम होते हैं । नैतिक नियम निरपेक्ष होते हैं उनका पालन किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए नहीं, अपितु उन्हीं के लिए होना चाहिए ।<sup>2</sup>

### ॥च॥ अन्तः प्रज्ञावादः

इसके अनुसार नैतिक गुण अर्थात् औचित्य-अनौचित्य कर्मों में अन्तर्भूत हैं । कोई कर्म स्वतः अपने स्वभाव के अनुसार उचित अथवा अनुचित होता है । उनका नैतिक गुण उनके फल अथवा जिन उद्देश्यों से कर्म किये जाते

1. डा० लक्ष्मी सक्सेना, नीति विज्ञान के मूल सिद्धान्त, पृ० 10

2. अशोक कुमार वर्मा, प्रारम्भिक आचारशास्त्र, पृ० 144-48

है, उन पर निर्भर नहीं है। नैतिक गुण अद्युत्पन्न होता है। ऐसा मानना कि हम अपनी बुद्धि अथवा विवेक से इसे निकालते हैं अथवा कल्पना करते हैं, भ्रान्तिमूलक है। कोई भी बुद्धि उचित को अनुचित अथवा अनुचित को उचित नहीं बना सकती। नैतिक गुण विष्णुगत होता है। इस मत के अनुसार अन्तःकरण ही नैतिकता का मापदण्ड है।<sup>1</sup>

### ॥छ॥ नैतिक संवित्तिवादः

नैतिक संवित्तिवाद का विश्वास है कि हमारे भीतर नैतिक विवेक की क्षमता इन्द्रिय के समान <sup>होती है</sup> तथा हमारे नैतिक निर्णय साधारण प्रत्यक्ष संबंधी निर्णय के तुल्य हैं। जिस प्रकार विशिष्ट इन्द्रियों द्वारा हम उनसे संबद्ध गुणों को सहज रूप से प्रत्यक्ष कर लेते हैं, यथा-शब्द, रूप, रस आदि, उसी प्रकार हमारी नैतिक इन्द्रिय नैतिक गुणों का सहज प्रत्यक्ष कर लेती है।<sup>2</sup>

### ॥ज॥ मनोवैज्ञानिक सुखवादः

मनोवैज्ञानिक सुखवाद वह नीति सिद्धान्त है, जिसके अनुसार 'सुख प्राप्ति ही जीवन का परम सुख है।' मनुष्य प्रकृतिवश ही सुख प्राप्ति के लिए जीवित नहीं रहता, प्रत्युत उसे अनिवार्यतः अपनी मूल महत्त्वाकांक्षा के अनुरूप सुख प्राप्ति के लिए जीवित रहना चाहिए। इसके मुख्य समर्थक एपीक्यू-रस हैं।<sup>3</sup> इसी परम्परा में गिल तथा बैथम ने वैयक्तिक हित की अपेक्षा सामान्य हित को अधिक श्रेष्ठ माना है।<sup>4</sup> इनके सिद्धान्त को उपयोगिता-वाद कहते हैं।

1. अशोक कुमार वर्मा, प्रारम्भिक आचार-शास्त्र, पृ० 131

2. डा० लक्ष्मी सक्सेना, नीतिविज्ञान के मूल सिद्धान्त, पृ० 43

3. डा० लक्ष्मी सक्सेना, नीतिविज्ञान के मूल सिद्धान्त, पृ० 95

4. वही, पृ० 98

### ॥ झ ॥ विकासवादी सुखवादः

विकासवादी सुखवाद के प्रमुख प्रवर्तक हैं - हर्बर्ट स्पेन्सर, हेम्यू-अल अलेक्जेंडर, लेज़ली स्टीफन तथा डार्विन । इस सिद्धान्त ने प्रकृति में विद्यमान जातियों के जीवन के संघर्षमय पक्ष को ही यथार्थ तथा अंतिम रूप में स्वीकार किया है तथा इसी कारण मानव के नैतिक जीवन के निरूपण में भी उन्होंने इसी रूप को प्राथमिकता दी है ।<sup>1</sup> स्पेन्सर पर प्रेम के लिए स्व-प्रेम को आवश्यक मानते हैं । लेज़ली नैतिकता को समाज की उन संरक्षक वृत्तियों का तथा संभवतः उपवृत्तियों का योग मानते हैं, जो सामाजिक हित की अपेक्षा रखती है ।<sup>2</sup> ये लोग जीवन को साध्य के रूप में स्वीकार करते हैं ।

### ॥ ट ॥ आदर्श उपयोगितावादः

नैतिक विचार के क्षेत्र में 'मूर' आदर्श उपयोगितावाद के समर्थक हैं । उपयोगितावाद के पूर्व-समर्थकों के विपरीत केवल 'सुख' जीवन के परम श्रेय के रूप में इन्हें स्वीकार्य नहीं है । इन्होंने 'शुभ' को जीवन का परम श्रेय माना है ।<sup>3</sup> मूर महोदय जीवन के भौतिक पक्ष की पूर्ण अज्ञा नहीं करते । उसे वे साधन रूप में ही महत्त्वपूर्ण नहीं मानते प्रत्युत साध्य रूप में स्वीकृत अनुभूति के अनिवार्य घटक के रूप में उसकी उपस्थिति और उसकी योगक्षमता को स्वीकार करते हैं ।

1. डा० लक्ष्मी सक्सेना, नीति विज्ञान के मूल सिद्धान्त, पृ० 141

2. वही, पृ० 151

3. वही, पृ० 171

### समीक्षा:

उपर्युक्त नीतिवादी सिद्धान्तों पर समीक्षात्मक दृष्टि डालना आवश्यक है। 'पूर्णतावाद' ने सुख के स्थान पर आनन्द को चरम लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया है। आचरण में ही व्यक्ति का 'स्व' प्रकट हो जाना चाहिए तथा अपने कर्मों द्वारा ही 'अपने' को प्राप्त करना इसका उद्देश्य है। काण्ट ने माना है कि विशुद्ध नैतिक जीवन व्यतीत करने के लिए मनुष्य को किसी प्रकार के बाह्य अनुशासन की आवश्यकता नहीं है। उसकी प्रकृति स्वतः ऐसी सम्भावना को मूर्त रूप देने के लिए स्थायी रूपेण उसके अंदर क्रियाशील है। इस दृष्टिकोण को अध्यात्मवादी कहा जा सकता है।

'विधिवादी' नीति को एक नियामक के रूप में स्वीकार करते हैं। करणीय तथा अकरणीय सिद्धान्तों के अनुसार समाज को नैतिक बनाने का इन्होंने प्रयास किया है। बाह्य नियम आन्तरिक उद्देश्यों की पूर्ति के अभाव में खोखले होते हैं। अतः इस सिद्धान्त ने चेतन मन को कभी भी संतुष्ट नहीं किया।

'विधिवाद' से असंतुष्ट 'प्रयोजनवादियों' ने प्रत्येक नियम को साधन के रूप में माना है क्योंकि नियम द्वारा प्राप्य ही साध्य हो सकता है। अतः नीति को साध्य न मानकर ये साधन मानते हैं।

'बुद्धिवादी' काण्ट ने मानवीय चेतना के विभाजित रूप को स्वीकार करते हुए यह माना है कि मानवीय चेतना में दो निश्चित तत्त्व हैं, जो सतत संघर्ष करते हैं एवं एक-दूसरे को दबाने की चेष्टा करते हैं। ये करणीय तथा अकरणीय को अपरिपक्व चेतना के लिए उपयुक्त मानते हैं, पूर्ण चेतना के लिए नहीं, क्योंकि वह अपने 'स्व' का अनुकरण करती है, 'बाह्य' नियमों का नहीं।

अन्तः प्रज्ञावादी' एवं 'नव्य-अन्तः प्रज्ञावादी' दोनों ही इस बात से सहमत हैं कि अन्तःकरण द्वारा संवालिता व्यक्ति ही नैतिक होता है । इनके अनुसार नैतिक नियमों का पालन करना चाहिए परन्तु अवसरानुसार इसका उल्लंघन भी किया जा सकता है । इन्द्रियों द्वारा संवालिता नैतिकता को संकल्प-विकल्प की लसोटी पर कसा जाना आवश्यक है । परन्तु अन्तः प्रज्ञावादियों ने इसकी उपेक्षा की है ।

'संवित्तिवादी' विद्वानों ने मनुष्य को मूल तथा गौण प्रेरणाओं द्वारा उसी प्रकार सहज रूप में संवालिता माना है जिस रूप में पशु व्यवहार की जैविक प्रतिक्रियाएँ संवालिता होती हैं । परन्तु पर्याप्त कारण के अभाव में मनुष्य कोई कार्य नहीं करता । अतः इस सिद्धान्त को अनोवैज्ञानिक कहा जा सकता है ।

'मनोवैज्ञानिक सुखवादियों' ने मनुष्य को मूल रूप में अहंकेन्द्रिक इकाई स्वीकार किया है तथा उसके जीवन में जहाँ भी परार्थ वृत्ति का प्रकाशन लक्षित होता है, वह वस्तुतः उसी मूल प्रकृति के स्मर्थन हेतु ही होता है । यह सिद्धान्त सर्वथा मान्य नहीं है क्योंकि जो जीवन में सत्यवादिता का पालन करता है वह किसी पुरस्कार अथवा लाभ की दृष्टि से नहीं करता प्रत्युत असत्य का पथ दुःख की ओर ले जाता है उसके लिए इतना ही ज्ञान सत्य को ग्रहण करने के लिए पर्याप्त होता है । सुख को न तो अपरोक्ष माना जा सकता है तथा न ही परम लक्ष्य । मनुष्य को केवल सुख-दुःख से नियंत्रित होने वाला प्राणी नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह अपने व्यक्तित्व में निहित यथार्थ एवं आदर्श के मध्य अन्तर्विरोध से मुक्त होना चाहता है तथा स्थायी रूप से अपने नास्तित्वक व्यक्तित्व को प्राप्त करके उसमें पूर्णतः अवस्थित होने की इच्छा करता है । मनुष्य सुख की मनः स्थितियों के लिए जीवित

नहीं रहता प्रत्युत उन मूल्यों, आदर्शों एवं महान् लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए संघर्ष करता है जो उसे उसके संकुचित व्यक्तित्व से मुक्त कर सके ।

‘विकासवादियों’ ने मानवीय व्यवहार को पशु स्तरीय जैविक व्यवहार से भिन्न प्रकृति वाला नहीं माना है । इसके एक समर्थक स्पेंसर मार्क्स की ही भाँति व्यक्ति के स्थान पर समाज तथा वर्ग को प्राथमिकता देते हैं । इन्होंने निरपेक्ष आचारनीति को ही पूर्ण सामंजस्य की स्थिति माना है ।

‘विकासवादी सुखवाद’ मनुष्य को उसकी जैविक अन्तः प्रकृति की दृष्टि से एक स्व-केन्द्रिक इकाई नहीं मानता क्योंकि यदि उसके जीवन का वही एक मात्र सत्य होता, तो किसी भी व्यावहारिक सुविधा के विचार द्वारा उसमें इस प्रकार की परोपकार वृत्ति का पोषण न होता जो नैतिक जीवन का आधार बिन्दु है । परोपकार वृत्ति उसके जीवन की मौलिक आवश्यकताओं को प्रकट करती है, क्योंकि वह समाज से संपृक्त है । ‘आदर्श उपयोगितावाद’ के प्रवर्तक मूर महोदय एक ऐसी स्थिति की कल्पना करते हैं जिसमें जीवन के चेतन एवं जड़ दोनों ही तत्त्व पर्याप्त अनुपात में सम्मिलित हों । उन दोनों तत्त्वों में निःसंदेह चेतन तत्त्व अधिक श्रेष्ठ है तथा उस तत्त्व में भौतिक तत्त्व को परिष्कृत करने की एक ऐसी अपूर्व क्षमता विद्यमान है कि वह कालान्तर में अपने विरोधी रूप का विसर्जन कर उसका अनुयायी हो जाता है । मूर महोदय मानते हैं कि नैतिक जीवन के आधार तथा उसको निर्धारित करने वाली सत्ता को प्रमुख रूप में नैतिक होना चाहिए तथा उसके संकल्प को ‘शुभ’ । यह ‘शुभ’ अतीन्द्रिय संकल्प द्वारा संचालित होता है ।

इस प्रकार आचार-शास्त्र में वर्णित नैतिक सिद्धान्तों को दो रूपों में विभाजित किया जा सकता है - निरपेक्षवाद तथा सापेक्षवाद । निरपेक्षवाद के अनुसार नैतिक नियम सर्वव्यापक सत्य हैं । उनमें देश एवं काल

के अनुसार परिवर्तन नहीं होता ।

सापेक्षवाद के अनुसार कोई भी नैतिक नियम सीमित समुदाय में अथवा व्यक्तियों के लिए ही सत्य होता है । इसके उत्तर में डा० राधाकृष्णन् का मत है कि धर्म देश-काल निरपेक्ष होता है, परन्तु इसकी समग्र अन्तर्वस्तु देश व काल की सीमा में होती है । वे नैतिकता में केवल एक ही वस्तु को शाश्वत स्वीकार करते हैं और वह हैं मनुष्य की उत्कृष्टतर होते जाने की आकांक्षा । परन्तु वे यह भी स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक विशिष्ट स्थिति में यह 'उत्कृष्टतर' क्या होगा, इसका निर्धारण काल तथा परिस्थितियाँ ही करती हैं ।<sup>1</sup>

### 1.3. आचार शास्त्र का लक्ष्य

नीति - विज्ञान की पुस्तकों में इसे प्रायः विधायक विज्ञान से पृथक् नियामक विज्ञान के रूप में प्रस्तुत किया जाता है । विधायक विज्ञान मूलतः वर्णनात्मक विज्ञान होता है, जिसका कार्य जीवन के विविध पक्षों के तथ्यात्मक स्वरूप का निरूपण करना होता है । नियामक विज्ञान का स्वरूप इससे भिन्न होता है । यह व्यक्ति के लिए मूलतः क्या करणीय है तथा क्या अकरणीय, इस प्रश्न के समाधान से संबंधित होता है ।<sup>2</sup> मानव जीवन के आदर्श को निर्धारित करना ही आचार-शास्त्र का मुख्य लक्ष्य है । मनुष्य को कैसा रहना चाहिए, उसका आचरण कैसा है ? वह नीति-सम्मत है अथवा नहीं । ऐसी बातों का इस शास्त्र में अध्ययन किया जाता है । अतः आचार-शास्त्र के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों पक्ष हैं ।<sup>3</sup>

---

1. धर्म और समाज, पृ० 117

2. डा० लक्ष्मीबक्सेना, नीतिविज्ञान के मूल सिद्धान्त, पृ० 4

3. अशोक कुमार वर्मा, प्रारम्भिक आचार शास्त्र, पृ० 12



श्री अरविन्द के अनुसार नैतिक जीवन का लक्ष्य मानवता का कल्याण है। परन्तु यह कल्याण मात्र लौकिक नहीं, अपितु आध्यात्मिक भी है जो कि कोई पारलौकिक उपलब्धि नहीं है। यह इसी पृथ्वी पर संभव है।<sup>1</sup> नैतिकता जो सामाजिक संरक्षण का साधन है। भारतीय आचारशास्त्रियों ने पारलौकिक सुख को ही जीवन का लक्ष्य स्वीकार किया है। लोकमान्य तिलक के अनुसार भारतीय आचार शास्त्र का उद्देश्य है कर्म मार्ग का अक्लम्बन।<sup>2</sup> कठोपनिषद् में भी श्रेय को प्रेय से श्रेष्ठ माना गया है।<sup>3</sup> चार्वाक को छोड़कर प्रायः सभी भारतीय चिन्तक मोक्ष को ही नैतिकता का लक्ष्य मानते हैं।

नैतिक जीवन का लक्ष्य मनुष्य के समक्ष उच्च से उच्च ध्येय को उपस्थित करना है। नैतिकता का सर्वोच्च आदर्श किसी विशेष नियम को मानना नहीं, प्रत्युत एक निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति को लिए चेष्टा करना है। यह लक्ष्य अपने आपको, अपने आचरण को विवेकयुक्त बनाना है। वैदिक ऋषियों का लक्ष्य मिथ्या के बदले सत्य को, निर्द्विती के स्थान पर श्रुत को एवं छिड़ित तथा स्सीम जीवन के बदले समग्रता तथा असीमता को लाकर मानवीय आत्मा को मृत्यु की अवस्था से अमरता की अवस्था में पहुँचा देना था। मानवीय जीवन सत्य तथा प्रकाश की शक्तियों एवं अंधकार की शक्तियों के मध्य चलने वाला युद्ध है। इस युद्ध में अपनी आन्तरिक शक्तियों को पवित्र विचारों द्वारा एकाग्र करके अंधकार की शक्ति को परास्त करना अभीष्ट है। डा० राधाकृष्णन् उसे अच्छा मनुष्य स्वीकार करते हैं जो दिव्य उद्देश्य के साथ संगति रखता है

1. डा० दिवाकर पाठक, भारतीय नीति शास्त्र, पृ० 125

2. वही, पृ० 72

3. देखें - कठोपनिषद्, 2, 1-2

तथा बुरा मनुष्य वह है जो उसका विरोध करता है । इन्होंने मानवीय आचरण का लक्ष्य आन्तरिक स्वच्छता माना है ।<sup>1</sup>

#### 1.4. धर्म एवं नीति

धर्म का भाव अपने मूल तत्त्व में प्रधानतः नैतिक है । धर्म, अपने उच्च स्तरों पर, नैतिक नियम को मनुष्य के स्वीकरण और पालन के लिए उसके स्वाधिकार के कारण उपस्थित करता है । धर्म का विशालतर भाव वास्तव में समस्त उर्जाओं के सच्चे विधान की एक धारणा है तथा सभी वस्तुओं में एक विवेक विचार ज्ञान तथा सौंदर्य बोध के सच्चे नियम को सारे मानवीय क्रिया-कलाप में सम्मिलित करता है । नैतिकता का सम्बन्ध जीवन-कर्म से है अतः धर्म की भावना में सदा ही नैतिक तत्त्व के अधिक प्रधान होने की प्रवृत्ति रही है। नैतिक मनुष्य चाहे सामान्य अर्थों में धार्मिक न हो परन्तु धार्मिक मनुष्य अवश्य ही नैतिक होगा । उच्च प्रकार की नैतिकता का अन्त धार्मिकता में ही होता है । धर्म के विषय स्वरूप ईश्वर पर आधारित नैतिकता स्वतः स्फूर्त होती है परन्तु समस्त सामाजिक नैतिकता बर्गसा<sup>2</sup> के विचार से किसी न किसी दबाव से उद्भूत होती है । अतः जिस समाज में नैतिकता का सम्बन्ध ईश्वर से होता है वह समाज नैतिक दृष्टि से अधिक सुदृढ़ होता है ।

धर्म नैतिकता होने के साथ-साथ कुछ अतिरिक्त भी है । धार्मिक नियम ईश्वर से जुड़े होने के कारण अटल और अनिवार्य होते हैं एवं उनका उल्लंघन पापात्मक होता है । परन्तु नैतिक नियम समयानुसार परिवर्तित होते रहते

1. उपनिषदों की भूमिका, पृ० 110 § अनु० रमानाथ शास्त्री §

2. मिश्र एवं अवस्थी, नीतिशास्त्र की भूमिका, पृ० 292

हैं तथा उनकी अवहेलना पापन होकर अनुचित मात्र होती है। नैतिकता तर्क पर आधारित होती है एवं धर्म आस्था पर। विद्वानों ने धर्म की अनेक प्रकार से व्याख्या की है। उन व्याख्याओं में से कुछ इस प्रकार है:

1- मेकाइवर और पेज के मत में <sup>धर्म</sup> केवल मनुष्य और मनुष्य के बीच का ही नहीं, अपितु मनुष्य और किसी उच्चतर शक्ति के बीच का सम्बन्ध है। इस कारण वह अपने आदेशों का औचित्य किसी अधिसामाजिक सत्ता की आज्ञा, नरक के भय अथवा अनन्त सत्ता के साथ असामंजस्य की आकांक्षा के आधार पर ठहराता है।<sup>1</sup>

2- क्रिस्टोफर डाउसन के मत से जहाँ कहीं और जब कभी मनुष्य अपने आपको रहस्यमय तथा अपने से उच्चतर शक्तियों पर आश्रित अनुभव करता है वहीं और तभी धर्म उपस्थित हो जाता है।<sup>2</sup>

3- ए० डब्ल्यू० ग्रीन के मत से धर्म उन आस्थाओं, प्रतीकात्मक कर्माभ्यासों और उद्देश्यों की प्रणाली है, जिसका निर्धारण ज्ञान की अपेक्षा विश्वास से अधिक होता है और जो मनुष्य को ज्ञान एवं नियन्त्रणीय से परे अदृष्ट अति-प्राकृतिक क्षेत्र से सम्बद्ध करता है।<sup>3</sup>

4- दुर्खीम के अनुसार धर्म पवित्र वस्तुओं से सम्बद्ध विश्वासों और व्यवहारों की एक समन्वित प्रणाली है।<sup>4</sup>

5- कांट<sup>5</sup> की दृष्टि में धर्म का नैतिकता पर आधारित होना परमावश्यक है।

1. साहित्य परिक्रम पृ० 8 §1982, अक्टूबर

2. वही, पृ० 8-9

3. वही, पृ० 9

4. वही

5. डा० छाया राय-कांट का नीति दर्शन, पृ० 29

यदि कोई धर्म नैतिकता पर आधारित न हो, तो उसे 'धर्म' की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है। कांट<sup>1</sup> यह भी स्वीकार करते हैं कि नैतिकता निश्चित रूप से धर्म की ओर ले जाती है, किन्तु वह यह नहीं मानते कि इसका आधार धर्म है अथवा इसे धर्म से निर्गमित किया जा सकता है।

6- ऐंजिल्स<sup>2</sup> का कथन है - 'धर्म मनुष्यों के मन में उन बाह्य शक्तियों के, जिनका मनुष्यों के दैनिक जीवन पर नियंत्रण है, क्लृप्ति प्रतिफलन के अतिरिक्त कुछ नहीं है, ऐसा प्रतिफलन जिसमें पार्थिव शक्तियाँ अलौकिक शक्तियों का रूप धारण कर लेती हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं पर दृष्टिपात करने से यह निष्कर्ष सहज ही निकलता है कि नैतिकता स्वरूपतः समाज-सापेक्ष है। अतः परमेश्वर आत्मा, जड़-चेतन जगत् तथा अपने शरीर के प्रति कर्तव्यों का पालन नैतिकता के क्षेत्र में नहीं आता। धर्म का क्षेत्र पूर्णतः जीवन-व्यापी है, जबकि नैतिकता का क्षेत्र सामाजिक जीवन मात्र है। जो व्यक्ति धार्मिक होता है वह निश्चित रूप से नैतिकता - सम्पन्न होता है, पर जो नैतिकता-सम्पन्न होता है, वह धार्मिक भी हो, यह आवश्यक नहीं है। वास्तव में नैतिकता धर्म का व्यवहार पक्ष है।

पाश्चात्य विचारकों के समस्तुल्य भारतीय मनीषा का भी इस विषय में विचार जानना आवश्यक है।

1- तैत्तिरीय आरण्यक<sup>3</sup> में कहा गया है - 'धर्म सम्पूर्ण जगत् की प्रतिष्ठा है, संसार में प्रजा धर्मिष्ठ के पास जाती है, धर्म से ही पाप

1. डा० छाया राय - कांट का नीति दर्शन, पृ० 93

2. डा० राधाकृष्णन्, धर्म और समाज, पृ० 34

3. धर्मो विश्वस्य जगत् प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसपन्ति धर्मेण पापमप-  
नुदन्ति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति ॥ 10/63

का विमोचन होता है, धर्म में ही सभी कुछ आधृत है। इसलिए विशेषज्ञ धर्म को ही परमतत्त्व कहते हैं।

2- भागवत<sup>1</sup> में बताया गया है कि धर्म चूंकि भगवत्प्रणीत है, इसलिए इसका ज्ञाता और बोद्धा एक मात्र भगवान् ही है, अन्य कोई भी नहीं।

3- सायण<sup>2</sup> धर्म को जगत् का धारक मानते हैं।

4- ब्रह्मदेव उपाध्याय<sup>3</sup> के शब्दों में 'इस विश्व के विभिन्न अखण्डों को एक सूत्र में, एक शृंखला में बांधने वाला जो सार्वभौम तत्त्व है वही धर्म है। धर्म के बिना प्रजाओं को एक सूत्र में धारण करने का तत्त्व दूसरा नहीं है।

5- डा० राधाकृष्ण<sup>4</sup> के अनुसार 'जिन सिद्धान्तों का हमें अपने दैनिक जीवन में और सामाजिक सम्बन्धों में पालन करना है, वे उस वस्तु द्वारा नियत किए गए हैं, जिसे धर्म कहा जाता है। यह सत्य का जीवन में मूर्त रूप है, और हमारी प्रकृति को नये रूप में ढालने की शक्ति है।

6- वास्तव में धर्म वह नियम है, जिसका पालन करने से मनुष्य स्वर्ग सुखी हो, उन्नति के पथ पर अग्रसर हो तथा समाज का भी कल्याण कर सके एवं सभी लोग एक दूसरे से प्रेम और सहानुभूति रखें। चाणक्य ने भी माना है कि बिना पाण्ड के जो कार्य किया जाता है वही धर्म है।<sup>5</sup>

1. धर्मज्ञ साक्षात् भगवत्प्रणीतं न वै विदुर्ऋषयो नापि देवाः

न सिद्धमूल्या असुरा मनुष्याः कुतश्च विद्याधरचारणादयः ॥ 6/3/19

2. देखें सायण भाष्य, ऋ० 5, 81, 5

3. भारतीय धर्म और दर्शन, पृ० 82-83

4. धर्म और समाज, पृ० 106

5. दम्भं विना यः क्रियते सधर्मः । चाणक्य नीति दर्पण 15/8

7- सांख्यानुसार<sup>1</sup> धार्मिकता और अधार्मिकता पुरुष के पारमार्थिक स्वरूप को स्पर्श नहीं करती । इनका संबंध मस्तिष्क से होता है , जो प्रकृति में व्यावहारिक अवस्था के परिणाम या परिवर्तन की उपज है । प्रकृति का पुरुष से संसर्ग होने पर ही अनेक व्यावहारिक अंग-प्रत्यंगों का प्रादुर्भाव हुआ है । इसी व्यावहारिक अवस्था के अन्तर्गत मन तथा संसार के प्रसंग में ही उचित-अनुचित, नैतिक-अनैतिक आदि को महत्त्व प्राप्त होता है । धर्म एवं नैतिकता पुरुष को उसी प्रकार स्पर्श नहीं करते जिस प्रकार स्फटिक पर कोई दूसरा रंग नहीं चढ़ता ।

8- न्याय-वैशेषिक के अनुसार धर्म आत्मा का एक विशेष गुण है । वैशेषिक-दर्शन जीवन के दोनों उद्देश्यों-अयुदय एवं निःश्रेयस को स्वीकार करता है । इन दोनों की प्राप्ति जिस साधन से हो, उसे वह ' धर्म ' कहता है । इस प्रकार सांख्य तथा न्याय-वैशेषिक दोनों ही धर्म एवं नैतिकता को वैयक्तिक एवं व्यावहारिक मानते हैं ।

9- बौद्ध मतानुयायियों के अनुसार सदाचार वैयक्तिक वस्तु है । यह व्यक्ति के मानस-प्रवाह, चित्त की वासना अथवा संस्कार से उत्पन्न होता है । अतः धर्म एवं सदाचार का केवल व्यावहारिक महत्त्व है, पारमार्थिक नहीं ।

10- मीमांसकों के अनुसार धर्म वस्तुगत और बाह्य है । इन लोगों के अनुसार धर्म या सदाचार स्वरूपतः शुभ है, जो विधि वाक्यों द्वारा या धर्म ग्रंथों द्वारा समर्थित है । प्रभाकर मीमांसा के अनुसार धर्म कोई

---

1. देखें-ईश्वर कृष्णकृत - सांख्यकारिका, 10, 11, 17, 19, 20, 21, 40, 62-67 पद  
वाचस्पति मिश्र कृत-तत्त्वमसौमुदी ० या 20 मा ॥

वैयक्तिक पदार्थ नहीं है तथा इसलिए वह आत्मा से सम्बद्ध नहीं है। भाट्ट मीमांसकों के अनुसार यज्ञादि काम्य कर्म ही धर्म या नैतिक शुभ को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक, सांख्य तथा बौद्धों के अनुसार धर्म एक आत्मनिष्ठ गुण है जो व्यावहारिक जगत् तक सीमित है। परन्तु मीमांसकों के अनुसार यह एक वास्तविक पदार्थ है। प्राभाकर मीमांसकों के मन में धर्म वैदिक आज्ञाओं में निहित एक असीन्द्रिय पदार्थ है तथा भाट्टों के अनुसार यह वेद विहित कर्मों में सन्निहित है। कर्मों का नैतिक मूल्य क्या है? इस प्रश्न पर बौद्धों ने महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किया है। बौद्धों के अनुसार यथार्थ रूप में कर्मों का कोई स्वतंत्र मूल्य नहीं है। इनका वैयक्तिक इच्छा एवं उसकी पूर्ति की दृष्टि से ही कोई मूल्य है जिससे कर्ता की मनोवृत्ति में सुधार होता है। बौद्धों के अनुसार नैतिक जीवन में यदि कर्मों का कोई मूल्य है तो वही तक जहाँ तक ये आध्यात्मिक पूर्णता में साधक हैं। रामानुज नैतिक कर्तव्यों को ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति में सहायक मानते हैं।<sup>1</sup> शंकर के लिए अध्यात्मपरक नैतिक जीवन के आदर्श की निष्पत्ति आत्मा की एक स्थिति है जिसके लिए ज्ञान की पूर्णता अनिवार्य है। सर्वोत्तम कर्तव्य वही है जो इस चरम लक्ष्य की पूर्ति में सहायक हो। शुक्राचार्य समस्त लोक-व्यवहार की स्थिति नीति-शास्त्र के बिना नहीं मानते।<sup>2</sup> नीति को धर्म से अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि भारतीय दर्शन में धर्म, दर्शन तथा नैतिक समस्याओं को एक-दूसरे से सम्मिलित करने की परिपाटी प्राचीन काल से प्रचलित रही है। अनेक पाश्चात्य नीति-शास्त्री इससे सहमत नहीं हैं।

1; भीखन लाल आत्रेय, भारतीय नीति-शास्त्र, पृ० 46

2. सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृन्नीति शास्त्रकम् ।

धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः ॥

उनका कहना है कि ये दोनों पृथक् धाराएँ हैं, अतः इन्हें एक साथ नहीं रखा जा सकता ।<sup>1</sup> धर्म-सूत्रों एवं धर्म-शास्त्रों आदि में वैयक्तिक जीवन के विकास के लिए विभिन्न नैतिक नियम बनाये गये जिनको विभिन्न लौकिक एवं पारलौकिक सुखों की प्राप्ति का साधन बताया गया है । धर्म उन्नति करते - करते भगवान् के स्वरूप में पहुँच जाने की महत्त्वाकांक्षा है । यह आत्मा की गहराई के साथ जीवन बिताने में सहायता देने के लिए है । मनुष्य के पृथक्-पृथक् हित होते हैं, विभिन्न इच्छाएँ होती हैं तथा विरोधी आवश्यकताएँ होती हैं जो वृद्धि को प्राप्त होती हैं एवं वृद्धि की दशा में ही परिवर्तित भी हो जाती हैं । उन सबको आवेष्टित करके एक समग्र रूप में प्रस्तुत कर देना धर्म का प्रयोजन है । यह वह अनुशासन है, जो अन्तरात्मा को स्पर्श करता है तथा मनुष्य को बुराई तथा कुत्सितता से संघर्ष करने में सहायता देता है, काम, क्रोध, लोभ और मोह से रक्षा करता है, नैतिक बल को उन्मुक्त करता है एवं संसार के परित्राण के लिए साहस प्रदान करता है । समस्त धर्मों का संयुक्त लक्ष्य आध्यात्मिक जीवन है । उनका पारस्परिक भेद लक्ष्य विषयक प्रत्युत प्रगति की उस मात्रा में है जो वे अपने न्यून अथवा अधिक प्रकाशों के सहारे कर पाते हैं । यदि किसी एक धर्म की तुलना दूसरे धर्मों से की जाए तो स्पष्ट हो जायेगा कि अन्तर केवल मन्त्रों और अनुष्ठानों में ही है, क्योंकि समस्त धर्म उसी एक अथाह स्रोत से अनुप्राणित हैं ।

साधारणतया धर्म से तात्पर्य कुछ ऐसे नियमों के पालन से है जिनसे लोक और परलोक में सुख और कल्याण हो तथा समाज में भी सुव्यवस्था बनी रहे । धर्म के विरुद्ध आवरण करना ही अधर्म है । अधर्म को पाप

---

1. देखें, सी0डी0 ब्रोड नीति शास्त्रीय सिद्धान्त के पाँच प्रकार, पृ0 14



की संज्ञा दी गई है। गीता में इसको आसुरी प्रकृति के अन्तर्गत रखा गया है। धर्म के वे नियम, जिनका उल्लंघन करने से वैधानिक कार्यवाही करना आवश्यक होता है, व्यवहार अथवा वास्तविक विधान कहलाते हैं। भारतीय विधानशास्त्री नैतिक शिक्षाओं तथा वैधानिक नियमों में मतभेद करते हैं। एक हैं धार्मिक तथा नैतिकता निर्वाह के नियम §आचार§ एवं प्रायश्चित्त करने के नियम §प्रायश्चित्त§ तथा दूसरे हैं सकारात्मक विधान के नियम §व्यवहार§<sup>1</sup> नैतिक चेतना के विकास का अर्थ है - धर्म के क्षेत्र का क्रमशः विस्तार, जाति से मानवता की ओर, राष्ट्रीयता से अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर, प्रचलन से अन्तःकरण की ओर तथा प्रचलनात्मक नैतिकता से वैयक्तिक नैतिकता की ओर परन्तु अनेतिकता की ओर कदापि नहीं।<sup>2</sup> श्री अरविन्द<sup>3</sup> ने नैतिकता को मनुष्य के मन तथा प्राण का विषय स्वीकार करने हुए उसका संबंध चेतना के निम्नतर स्तर से माना है उन्होंने आध्यात्मिक जीवन को नीति पर नहीं प्रत्युत एक आध्यात्मिकता पर आधारित माना है। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि आध्यात्मिक व्यक्ति अनेतिक होगा बल्कि उसका कर्म भागवत् संकल्प के अनुगमन पर प्रतिष्ठित होता है, जो नैतिकता से निम्नतर न होकर उच्चतर होता है। उनके<sup>4</sup> अनुसार नैतिकता साधारण जीवन का एक अंग है, यह किन्हीं मानसिक नियमों के द्वारा बाह्य आवरण को संयमित करने अथवा इन नियमों के द्वारा अपने चरित्र को ऐसा बनाने का प्रयत्न है जो किसी मानसिक आदर्श का मूर्त रूप हो।

1. डा० राधाकृष्णन्, धर्म और समाज, पृ० 115

2. अशोक कुमार वर्मा, प्रारम्भिक आचार शास्त्र, पृ० 60

3. श्री अरविन्द के पत्र §प्र० भाग§, पृ० 169

4. वही, पृ० 161

### निष्कर्ष

नैतिक शिक्षा का तात्पर्य उस शिक्षा से है जो नागरिकों में सच्चरित्र का निर्माण करने में सक्षम हो। चरित्र ही मानव का सब कुछ है, जिसे नैतिक शिक्षा के द्वारा ही मानव-मन में उद्दीप्त किया जा सकता है। यह शिक्षा व्यक्ति को न केवल चरित्रवान् बनाती है अपितु उसे समाज के विविध वर्गों, जातियों, धर्मों एवं सम्प्रदायों में सामञ्जस्य स्थापित करने की भी क्षमता प्रदान करती है। नैतिक-शिक्षा प्राप्त व्यक्ति उदार दृष्टि-कोण वाला, सबसे प्रेम, सहानुभूति, नम्रता एवं अनुशासित ढंग से व्यवहार करने में समर्थ होता है। वह अपने स्वार्थ के वशीभूत हो; दूसरों का अहित नहीं करता।

विचारों अथवा आदर्शों का व्यावहारिक रूप आचार है। आचार की आधारशिला नैतिकता है। समाज में धर्म की प्रतिष्ठा इसीकारण है कि वह नैतिकता पर प्रतिष्ठित है। वास्तव में धर्म की उत्पत्ति मनुष्य के भीतर विद्यमान उस भावना के आधार पर ही होती है जिसे नैतिकता कहा जाता है।<sup>1</sup> धर्म का सार आध्यात्मिक सर्जन एवं आध्यात्मिक अनुभूति है। इस प्रकार के सर्जन अथवा अनुभूति का विस्तार ही धर्म का विकास है। जो आचार इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हो वही धर्ममूलक आचार है। इस प्रकार का आचार नैतिकता की भावना के अभाव में संभव नहीं है। नैतिक भावनाओं का विस्तार ही धार्मिक विकास है एवं धार्मिक विकास ही आध्यात्मिक विकास है तथा आध्यात्मिक विकास की चरमावस्था का

---

1. मोहन लाल मेहता, जैन आचार, पृ० 5

ही नाम मोक्ष है । लोक में धर्म ही सारभूत तत्त्व है । धर्म का सार ज्ञान, ज्ञान का सार स्यम व स्यम का सार निर्वाण है ।

उपर्युक्त विवरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि कोई भी धर्म नैतिकता से हटकर अपनी धर्मवृत्ता का निर्वाह नहीं कर सकता। सत्य-वादिता नीति है एवं सत्य का स्वरूप क्या है, इसका व्यक्ति से क्या संबंध है, सत्य के साथ किस प्रकार एकाकारता हो सकती है - इत्यादि प्रश्नों का आरंभ ही धर्म का रूप धारण कर लेता है । आध्यात्मिकता का जागरण ही धर्म है । धर्म का आधार नीति है । धर्म भावनाओं का अधिक सम्मान करता है जबकि नीति आवरण का । इसी कारण कभी-कभी कोई बात बाह्य दृष्टि से अनेक सी प्रतीत होती हुई भी धर्म की दृष्टि में उचित होती है, क्योंकि धर्म का मूलतः कोई संबंध समाज से नहीं होता । धर्म एक वैयक्तिक व्यापार है । ज्यों ही वह सामाजिक बनता है, त्यों ही वह संप्रदाय हो जाता है। संप्रदाय शब्द गुरु परम्परागत या शिष्ट परम्परागत उपदेश का वाक्य है । इसी संदर्भ में माघ<sup>1</sup> ने भी कहा है कि किसी विशेष गुण गौरवशाली आचार्य द्वारा देश-कालानुसार किसी देश में जो सदा उपदेश किया जाता है, वह संप्रदाय है । धर्म के द्योतक तत्त्व हैं सार्वभौमत्व, सार्वकालिकत्व और अद्वितीयत्व जबकि देशकाल के संबंध से कदाचित् ही स्थितिशाली होना संप्रदाय का लक्षण है । नीति का संबंध समाज से है तथा धर्म का व्यक्ति से । यह प्राणी का समष्टिगत प्राण से संबंध है ।

1. संप्रदायविगमादपेयुषीरेण नाशमविनाशिविग्रहः ।

स्मर्तुमप्रतिहतस्मृतिः श्रुतीर्दत्त इत्यभवदत्रिगोत्रजः ॥

शिशुपाल वधम्, 14/79

किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि धर्म के सामूहिक परिणाम नहीं होंगे । यदि एक व्यक्ति शान्त हो जाय, परमात्मा के प्रकाश से भर जाय तो उसका जीवन और आवरण सब परिवर्तित हो जायगा । व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास की चिन्ता केवल धर्म को होती है । धर्म ने सदा सद्-गुणों का विकास किया है । धर्म से चारित्रिक बल आता है । वैज्ञानिक तर्क-बुद्धि के साथ-साथ चारित्रिक बल आवश्यक है, भौतिक समृद्धि के साथ-साथ आध्यात्मिक शान्ति आवश्यक है । डा० राधाकृष्णन् के अनुसार व्यक्ति तथा शाश्वत तत्त्व के मध्य लुप्त हो गए संबंध को पुनः स्थापित करना ही धर्म का लक्ष्य है ।<sup>1</sup> इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए स्वार्थ का परित्याग आवश्यक है ।<sup>2</sup>

साम्यवादी विचारक धर्म को स्वीकार नहीं करते । वे केवल आवरण पर बल देते हैं । परन्तु इसका दुष्परिणाम पाश्चात्य देशों में देखा जा सकता है । वहाँ परिवार छँडित हो गया है । माता, पिता तथा पुत्र के मध्य के संबंध शिथिल हो गए हैं । इसका एक मात्र कारण है कि जहाँ परमात्मा के अस्तित्व को नकारा जायेगा वहाँ किसी भी अन्य अस्तित्व की अपेक्षा नहीं की जा सकती । जब तक हमारे व्यक्तित्व में अन्य व्यक्तियों को समाविष्ट करने की क्षमता नहीं होगी, जब तक हम अपने अन्तस्त्व से संयुक्त नहीं होंगे, जब तक एक ही परमात्मा का सब में वास नहीं मानेंगे जब तक न तो वास्तविक नैतिकता उत्पन्न हो सकती है तथा न ही शान्ति। उत्तम भोजन,

1. डा० राधाकृष्णन् , धर्म और समाज, पृ० 40

2. सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हितैरतः ।

कर्मणा मनसा वाचा सधर्म वेद जाजले ॥

विपुल सम्पत्ति, मूल्यवान् वस्त्रों से ही सन्तुष्ट नहीं होती । दुःख तथा असन्तोष का प्रमुख कारण निर्धनता भी नहीं है । वास्तविकता यह है कि मनुष्य के भीतर अजेय आशाएँ, सर्जनशील ऊर्जाएँ तथा आध्यात्मिक शक्तियाँ वास करती हैं । यदि इन सबका विकास न हो तथा वे अतृप्त रहें, तो सम्पत्ति के रहते हुए भी उसका जीवन असन्तोष तथा क्षोभ के कारण जीने योग्य नहीं रह जायेगा । चेतना को जड़ पदार्थों से सम्पृक्त करने के कारण मनुष्य की अपनी ही जड़ें प्रकम्पित हो गई हैं । जीवन को यदि जड़ से जोड़ने का नाम संसार है तो जीवन को जीवन से जोड़ने अर्थात् चेतना को आत्मा से जोड़कर आगे बढ़ने का नाम धर्म है । जिस मार्ग पर यह धर्म गतिमान् होता है उसी को नीति कहते हैं ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।  
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।  
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

## द्वितीय अध्याय =====

### वैदिक नीति का आधारभूत तत्त्व-श्रुत -----

- 2.1. श्रुत की व्युत्पत्ति एवं परिभाषा
- 2.1.2. श्रुत का मूल स्थान एवं स्वरूप
- 2.2. श्रुत का अभाव - निर्वृति
- 2.2.1. स्वप्न मीमांसा
- 2.3. श्रुत के अभाव का परिणाम-मनोदैहिक रोग
- 2.3.1. मनोदैहिक रोग
- 2.3.2. व्यक्तित्व परिच्छेदिका सिद्धान्त
- 2.3.3. स्वायत्तता सम्बन्धी अधिगम सिद्धान्त
- 2.3.4. उद्दीपन-परिस्थिति सिद्धान्त

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।  
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।  
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

## द्वितीय-अध्याय =====

### वैदिक नीति का आधारभूत तत्त्व - मृत =====

आधुनिक विज्ञान के अनुसार इस ब्रह्माण्ड में कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है, यहाँ तक कि परमाणु भी नहीं। ग्रीक दार्शनिक हेराक्लिटस का भी मत है कि एक ही नदी में पुनः नहीं उतरा जा सकता, क्योंकि नदी के साथ ही व्यक्ति भी परिवर्तित हो चुका होगा। महात्माबुद्ध ने भी इस संसार को क्षणभंगुर कहकर किसी भी स्थायी तत्त्व को अस्वीकृत कर दिया। आधुनिक युग के दार्शनिक बर्सा तथा व्हाइटहेड का कथन है कि यह संसार स्थिर न होकर एक प्रक्रिया मात्र है तथा यह प्रक्रिया ही सृष्टि का आधार है। वैज्ञानिकों का दावा है कि प्रत्येक सात वर्ष के पश्चात् मनुष्य के शरीर का प्रत्येक जीवाणु नष्ट होकर नवीभूत हो जाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य प्रत्येक सात वर्ष के पश्चात् भौतिक रूपेण पूर्णतः परिवर्तित हो जाता है। कुरआन में कहा गया है -

"अल्लाह ने आकाशों तथा धरती को हक के साथ पैदा किया। रात को दिन पर लपेटता है तथा दिन को रात पर लपेटता है और सूर्य एवं चंद्रमा को काम में लगाया, हर-एक एक निश्चित समय तक चला जा रहा है।"<sup>1</sup>

इस प्रकार यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि धर्म, दर्शन तथा विज्ञान इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हैं कि यहाँ स्थायित्व की गवेषणा मरुभूमि में जल की खोज है । प्रत्येक क्षण यहाँ परिवर्तन हो रहा है ।

उपर्युक्त सिद्धान्त पर दृष्टिपात करने से यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब परिवर्तन ही शाश्वत है तो फिर नैतिक नियमों में स्थिरता कैसे होगी ? जब व्यक्ति प्रत्येक क्षण परिवर्तित हो रहा है तो फिर वह किन्हीं नियमों पर स्थिर कैसे रह सकता है ? जब समय ही स्थिर नहीं तो फिर उसमें निर्मित वस्तुएँ अथवा नियम कैसे अवल हो सकेंगे ? इसी प्रकार के विचार ऋग्वेद के एक मंत्र में देखे जा सकते हैं जहाँ कहा गया है कि "निश्चित ही आज नहीं है, न कल है, जो घटित नहीं हुआ है उसे कौन जानता है । जिसका चित्त चंचल होता है उसका विचार हुआ भी नष्ट हो जाता है ।"<sup>1</sup> जब व्यक्ति के विचार भी प्रत्येक क्षण परिवर्तित होते रहते हैं तो कैसे किसी नीति की कल्पना की जा सकती है ? यदि ऐसा ही है तो फिर किसी नीति की आवश्यकता ही शेष नहीं रह जाती । क्योंकि जिसके अन्तः में कोई स्थिरता का बिन्दु अथवा कोई आधार नहीं होगा उसमें नित्य ही परिवर्तन वाली घटना होगी । प्रातः वह जिस सिद्धान्त के लिए अपने प्राणों की आहुति देता था, सन्ध्या में उसी सिद्धान्त को नष्ट करने के लिए भी प्राण अर्पित कर सकता है । इस प्रकार वह नदी की भाँति ही बह जायगा । परन्तु वास्तविकता मात्र इतनी ही हो ऐसा नहीं है , क्योंकि बुद्ध ने जहाँ क्षणभंगुरवाद का प्रतिपादन किया है एवं आत्मा को एक योगिक एवं परिवर्तनशील तत्त्व माना है वहीं उन्होंने

---

1. न नूनमस्मि नो श्वः कस्तद्धेद यदद्भुतम् ।

अन्यस्य चित्तमभि संवरेण्यमनाधीतं विनश्यति ॥ ३० ।, 170, 1



‘निब्वान’ को शाश्वत भी बताया है। इसी प्रकार महावीर ने भी समय की परिधि में समस्त वस्तुओं को परिवर्तनशील माना है परन्तु समय को शाश्वत अथवा अपरिवर्तनशील। कुरआन भी जहाँ भाव-दर्शन की बात करता है वहीं यह भी स्वीकार करता है कि गतिशील रात्रि एवं दिवस के मध्य स्थिरता भी विद्यमान है।<sup>1</sup> विज्ञान भी यह स्वीकार करता है कि ऊर्जा को नष्ट नहीं किया जा सकता अर्थात् वह शाश्वत है।

इस प्रकार जहाँ केवल क्षणभंगुरता है, परिवर्तन है एवं अस्थिरता है वहीं कुछ ऐसा भी है जो शाश्वत, अपरिवर्तनशील तथा स्थिर भी है। किसी ने उसे ‘निब्वान’ कहा है तो किसी ने ‘समय’। कोई उसे ‘परमात्मा’ कहता है तो कोई ‘ऊर्जा’ एवं कोई ‘उसे’ किसी संज्ञा की सीमा में बद्ध कर सीमित नहीं करना चाहता।

## 2.1. ऋत की व्युत्पत्ति एवं परिभाषा

यदि नैतिक नियम मात्र सांसारिक ही होंगे तो वे अश्वमेव क्षणभंगुर एवं परिवर्तनशील होंगे। परन्तु वैदिक नीति क्षणभंगुरवाद के सिद्धान्त पर प्रतिष्ठित न होकर ‘ऋत’ पर आधारित है। अतः ‘ऋत’ की व्याख्या आवश्यक है। सायणाचार्य ने इसका अर्थ उदक, सत्य, यज्ञ तथा आदित्य इत्यादि किया है।<sup>2</sup> परन्तु यह व्याख्या भ्रामक है, क्योंकि ऋग्वेद में कहा गया है कि “वह व्यक्ति सत्य का स्वामी बनता है, स्वशक्ति के द्वारा वृत्र को मारता

1. अल-अनआम, 13/6

2. देखें सायण भाष्य, ऋ0 5,67,4/5,44,2 /8,7,21 / 5,80,4

है एवं विप्रबल कर एषणि के अन्न का हरण करता है, है ऋत से उत्पन्न सवेत्तम अग्नि जिसे नम प्रसन्नता पूर्वक तथा जल के साथ धन की ओर प्रेरित करते हो।<sup>1</sup> सायण यहाँ ऋत का अर्थ यज्ञ करते हैं जो अपर्याप्त है ।

इसी प्रकार अन्यत्र कहा गया है कि " यह उषा निष्पाप होकर आकाश-पृथिवी में अपनी कान्ति को पूर्व दिशा से प्रकट करती है । यह ऋत के पथ का अनुगमन सीधी तरह से करती है तथा सवेत्तम सी यह दिशाओं की हिंसा नहीं करती " <sup>2</sup> सायण यहाँ ऋत का अर्थ 'आदित्य' करते हैं, जो कि उचित नहीं है , क्योंकि उषा सूर्य के मार्ग का अनुसरण नहीं करती प्रत्युत स्वयं सूर्य ही उसका अनुसरण करता है । अतः ऋत का अर्थ आदित्य नहीं हो सकता । कीथ इसकी व्युत्पत्ति अर् 'योग्य होना' अथवा एर 'गतिशील होना' से मानते हैं ।<sup>3</sup> तारिणीश झा इसे ऋ 'चलना', 'जाना' से निष्पन्न मानते हैं ।<sup>4</sup>

मेक्डानल<sup>5</sup> के अनुसार प्रकृति में व्याप्त शाश्वत नियम ऋत है। यही शब्द नैतिक क्षेत्र में सत्य एवं यथार्थ के रूप में व्यवस्था का निर्देश करना है तथा धार्मिक जगत् में यह यज्ञ अथवा यागादि पद्धतियों का वाचक बन गया है ।

1. स सत्पतिः श्वसा हन्ति वृत्रमग्ने विप्रो वि पर्णेर्भर्ति वाजम् ।

यं त्वं प्रवेत ऋतजात राया सजोषा नज्रापां हिनोषि ॥ ऋ0 6,13,3

2. एषा व्येनी भवति द्विबर्हा जाविष्कृवाणा तन्वं पुरस्तात् ।

ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजाननीव न दिशोमिनाति ॥ ऋ0 5,80,4

3. वैदिक धर्म एवं दर्शन, पृ० 103 § अनु० डा० सूर्यकान्तः

4. संस्कृत शब्दार्थकोस्तुभ, पृ० 269

5. वैदिक माइथोलोजी, पृ० 18, ( अनु० डा० स्प्रैग्लान्ट )

लुई रेनु<sup>1</sup> के अनुसार ऋत शब्द का प्रयोग वैश्व विधानकेलिए होता है जिस पर मनुष्य का शासन, नीति तथा सामाजिक व्यवहार निर्भर है। यही आगे चलकर धर्म कहलाया।

कीथ<sup>2</sup> के अनुसार यह निषेध एवं यथार्थ कर्म के लिए विधान करना है। सत्य एवं ऋत में अन्तर करते हुए वे लिखते हैं कि "सत्य का अर्थ है कथन की यथार्थता, प्रविज्ञा का सच्चाई के साथ निर्वाह, यह निष्ठा कि आदर्श असल बनकर रहेगा, तथा प्रस्तुत वस्तु-विधान आदर्श विधान है"।<sup>3</sup> ऋत को अवेस्ता<sup>4</sup> में 'अश' तथा लाओत्से<sup>5</sup> की भाषा में 'ताओ' कहा जा सकता है। न्यायवैशेषिक का 'अदृष्ट' तथा मीमांसा का 'अपूर्व' इसी का वैयक्तिक परिणाम है।<sup>5</sup>

श्री अरविन्द के अनुसार "वैदिक ऋत जहाँ मनोवैज्ञानिक विचार है वहाँ आध्यात्मिक विचार भी।"<sup>6</sup> उन्होंने नैतिकता के दो गुण माने हैं- नैतिक अच्छाई तथा नैतिक बुराई। वे नैतिक अच्छाई का सम्बन्ध ऋत से स्वीकार करते हैं तथा नैतिक बुराई का वृत्त से।<sup>7</sup> इस प्रकार कहा जा सकता है कि ऋत एकशाश्वत नियम है। वैश्व स्तर पर वह प्रकृति का नियम है जो अव्यवस्था

1. रिलीजन्स ऑफ एन्सीएंट इण्डिया

2. वैदिक धर्म एवं दर्शन, पृ० 310 {अनु० डा० सूर्यकान्त}

3. वही

4. ए० वी० कीथ, वैदिक धर्म एवं दर्शन, पृ० 40 {अनु० डा० सूर्यकान्त}

5. डा० गणेश दत्त शर्मा, ऋग्वेद में दार्शनिक तत्त्व, पृ० 142

6. वेद रहस्य {पूर्वार्द्ध}, पृ० 321

7. पुनर्जन्म और ब्रह्म विकास, पृ० 115

अथवा विप्लव के ऊपर सामंजस्य स्थापित करता है एवं सौंदर्यमय रूप की संरचना करता है । यह सामाजिक दृष्टि से वह मौलिक नियम है जो अपने नियम तथा संस्लन द्वारा मनुष्य के जीवन एवं चरित्र पर नियंत्रण रखता है तथा नैतिकता अथवा अच्छाई को उत्पन्न करता है ।

ऋत एक शाश्वत नियम तथा सीधा मार्ग है, जिस पर चल कर दिव्य-ज्योति प्राप्त की जा सकती है ।<sup>1</sup> कुरआन की भाषा में यह "सिरात्स मुस्त्कीम" है ।<sup>2</sup>

सृष्टि के आरम्भ में कतिपय नियम बना दिये गये थे उन्हीं पर आचार-शास्त्र भी आधारित हैं । नैतिकता के नियम मूलतः स्थायी हैं परन्तु अपने प्रकटीकरण में वे परिवर्तित भी हो सकते हैं । ऋग्वेद स्पष्ट शब्दों में कहता है कि इन शाश्वत नियमों का उल्लंघन राक्षस, मनुष्य, द्यावा-पृथिवी, समस्त चेतन तथा पर्वतादि जड़ पदार्थ भी नहीं कर सकते ।<sup>3</sup>

## 2.1.2. ऋत का मूल स्थान एवं स्वरूप

ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि "कवियों ने सात मर्यादायें बनाई हैं, उनमें से यदि एक मर्यादा का भी व्यक्ति उल्लंघन करे

1. अ० दु० पारमेत्वे पन्था ऋतस्य साधुया ।

अ० दर्शि वि सृतिर्दिवः ॥ ऋ0 1,46,11

2. सूर्या-अ० फातिहा

3. न ता मिनन्ति मायिनो न धीरो व्रता देवानां प्रथमा ध्रुवाणि ।

न रोदसी अ० दु० वेद्याभिर्न पर्वता निनमे तस्थिवांसः ॥ ऋ0 3,56,1

तो भी वह पापी हो जायेगा, क्योंकि मनुष्य का स्तम्भ सर्वोच्च गगन के मूल स्थान में है, जहाँ से मार्ग प्रस्फुटित होते हैं तथा मौलिक स्थिति में विद्यमान होते हैं ।<sup>1</sup> इससे सहज ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्राणी जिस पर पूर्णतः विश्वास कर सके एवं जिस पर नैतिकता स्थित हो सके वह सर्वोच्च गगन में है । वहीं से समस्त पथ निकलते हैं तथा वहीं धारक स्तम्भ है । अतः जो उस सर्वोच्च स्तम्भ पर आश्रित होगा वही उन सप्त मर्यादाओं<sup>2</sup> का पालन करने में भी समर्थ होगा ।

प्रस्तुत विचार की पुष्टि में उस मंत्र को प्रस्तुत किया जा सकता है जहाँ कहा गया है कि "असत् तथा सत् का मूल स्थान परम व्योम है, दक्ष के जन्म में तथा अदिति के क्रोड में अग्नि ऋत से उत्पन्न होने वाला प्रथम तत्त्व है । अपने जन्म से पूर्व वह वृषभ भी था तथा धेनु भी ।"<sup>3</sup> प्रायः के अनुसार 'काम' के कारण अनेक पाप उत्पन्न होते हैं । परन्तु उस अग्नि में पुरुष एवं स्त्री दोनों ही तत्त्व एक समान विद्यमान थे । अतः इस प्रकार की स्थिति में किसी दुराचार की संभावना नगण्य हो जाती है । अतः नैतिकता का अन्तिम आश्रय सर्वोच्च गगन में है, व्यक्ति में नहीं । यदि मनुष्य की नैतिकता उसी सर्वोच्च नीति पर आधारित है तो उसमें स्थिरता होगी

1. सप्त मर्यादाः क्वयस्तत्क्षुस्तासामेकामिदभ्यं हुरोगात् ।

आयोर्द्वे स्तम्भ उग्रमस्य नीके पथा विसर्गे धरूपेषु तस्थौ ॥ ऋ0 10,5,6

2. स्तेयं गुरुत्वरूपारोक्षणं ब्रह्महत्यां सुरापानं दुष्कृत्कर्मणः पुनःपुनः सेवां पान्क्तेऽनृतो धम्, निरुक्त 6/27

3. असच्च सच्च परमे व्योमन्दक्षस्य जन्मन्नदितेरूपस्थे ।

अग्निर्ह नः प्रथमजा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषभश्च धेनुः ॥ ऋ0 10,5,7

अन्यथा उसकी नीति क्षण-क्षण परिवर्तनशील होगी ।

यूंग का कथन है कि नैतिक तत्त्व ही केवल ऐसा है जिसमें कोई संशोधन नहीं किया जा सकता जबकि प्रत्येक स्थायी नैतिकता का संशोधन अपने आप में एक अनैतिकता है ।<sup>1</sup> नैतिक तत्त्व के इसी स्थायित्व को स्पष्ट करते हुए ऋग्वेद में कहा गया है कि "तीन जो द्युलोक है, इसमें से दो सूर्य के समीप है तथा एक यम के लोक में विराजमान है । देवता लोग रथ की धुरी की भाँति स्थिर रहते हैं, जो व्यक्ति जानता हो वह इस बात को बताये ।"<sup>2</sup> यहाँ देवता को समयातीत तथा रथ की धुरी की भाँति स्थिर कहा गया है । देवता ऋत पर प्रतिष्ठित होते हैं । अतः देवताओं की स्थिरता निश्चित रूपेण ऋत के ही कारण है । क्योंकि वही उनका आधार भूत तत्त्व है । अतः यह सहज ही कहा जा सकता है कि वैदिक नीति का आधार ऋत शाश्वत एवं स्थायी तत्त्व है । वह सबको गति देता है परन्तु स्वयं स्थिर है ।

ईश्वर के प्रांगण को ऋत का सदन बताते हुए कहा गया है -  
 "काले पथ से होकर हरण करने वाली, सुन्दर पँखों वाले पक्षी की भाँति किरणें जल का वस्त्र धारण कर द्युलोक में आरोहण करती हैं । वे ऋत के मूल स्थान से इधर की ओर लौट आती हैं एवं द्युलोक, पृथिवी तथा उनके मध्य जो स्थित है

1. सी0जी0 यूंग, साइकोलाजिकल रिफ्लेक्शन्स, पृ० 194

2. निम्नो द्यावः सवितुर्वा उपस्थाँ एका यमस्य भुवने विराषाट् ।

आणि न रश्यममृतधि तस्थुरिह ब्रवीत् य उ तच्चिकेत् ॥ ऋ० 1,35,6

वह घृत के द्वारा आर्द्र किया जाता है ।<sup>1</sup>

प्लेटो ने 'वास्तविकता' का वास स्वर्ग में माना है एवं इस संसार को उसकी छाया । इसी भाँति वास्तविक नीति ऋत पर आधारित है , वह ऋत शश्वत एवं उसका मूल पारलौकिक है । इस संसार में व्याप्त नैतिकता उसकी ही अभिव्यक्ति है । ऋत के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए एक मंत्र में कहा गया है कि "हे अश्विनीकुमारो । ऋत के द्वारा सविता देव शान्त किये जाते हैं, ऋत की ही सींग विस्तार से फैलती है । युद्ध करने वाले महायोद्धा को भी ऋत पराभूत करता है, उसी ऋत के कारण तू दोनों हमारे प्रति जो सख्य भाव है उसे न त्यागो तथा अश्व की लगाम शिथिल करो"<sup>2</sup> उक्त मंत्र से प्रतीत होता है कि ऋत दो स्तरों पर कार्य करता है - यान्त्रिक तथा वैयक्तिक । विश्व में जो व्यवस्था है अर्थात् सूर्य का उदयास्त, ऋतुओं का आवागमन, पृथिवी का परिक्रमण इत्यादि यान्त्रिक है । इन सब के पीछे ऋत ही कार्य कर रहा है । वही इनका नियन्ता है । वैयक्तिक स्तर पर भी ऋत कार्य करता है । उपासक को जो उपासना द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है, वह ऋत ही के द्वारा होती है । लघुत्तम जीव की प्रार्थना को भी ईश्वर इसी के द्वारा सुनता है,<sup>3</sup> क्योंकि उसने अपने लिए भी कतिपय नियम बना रखे हैं

1. कृष्णं नित्यानुं हरेयः सुपर्णा अपोवसाना दिवमुत्पतन्ति ।

त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिदृष्टे पृथिवी व्युद्यते ॥ ऋ0 1,164,47

2. ऋते देवः सविता शमायत ऋतस्य शृङ्गमुर्विया वि पप्रथे ।

ऋतं सासाह महि चित्पृतन्यनो मा नो वि योषत सख्या मुमोवत्स ॥

ऋ0 8,86,5

3. देखें ऋ0 5,65,2

जिनके अनुसार वह कार्य करना है। अतः कहा जा सकता है कि ऋतु के दो स्वरूप होते हैं - एक बाह्य तथा दूसरा आन्तरिक। देवताओं ने प्रथमतः इसे अपने भीतर अवतरित किया, तदुपरान्त इसके बाह्य रूप में वृद्धि की।<sup>1</sup> अर्थात् उन्होंने पहले इसे आत्मसात् किया तत्पश्चात् नीति के पालन की प्रेरणा दी। प्लेटो का कथन है कि शरीर से रूग्ण व्यक्ति तो उत्तम विकि-त्सक हो सकता है परन्तु नैतिक दृष्टि से रूग्ण व्यक्ति कभी भी उत्तम उपदेष्टा नहीं हो सकता। देवतागण संसार के विशाल यज्ञ में सम्मिलित होते हैं। अतः संसार की अच्छाई-बुराई का नैतिक उत्तरदायित्व भी वे स्वीकार करके नीति का मार्ग प्रशस्त करते हैं। डा० राधाकृष्णन्<sup>2</sup> के अनुसार कर्म का नियम व्यक्ति के लिए कोई बाह्य वस्तु नहीं है। निर्णायक बाहर नहीं, बल्कि भीतर है। श्री अरविन्द<sup>3</sup> का भी विचार है कि मनुष्य को अपने भीतर ही नैतिक नियमों को जन्म देना होगा, केवल तभी मनुष्य के प्राणिक अस्तित्व के उचित व्यवस्थापन में नैतिक व्यवस्था को उसके पूरे मूल्य की प्रतिष्ठा दी जा सकती है।

उपर्युक्त सिद्धान्त का व्यावहारिक रूप वैदिक नीति में द्रष्टव्य है। वैदिक नीति बाह्याचरण से पूर्व आन्तर पर कल देती है। यह विचार से आचरणोन्मुखी है अर्थात् केन्द्र से परिधि की ओर गमन करती है। वैदिक नीति का सार यही है कि यदि व्यक्ति का अन्तः ऋतु द्वारा संवाहित हो तो उसका बाह्याचरण स्वतः नैतिक होगा। पाश्चात्यनीति जहाँ बुरा करने

1. ऋते मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा ।

क्रतु बृहन्तमाशाथे ॥ ऋ० १, 2, 8

2. उपनिषदों की भूमिका, पृ० 119

3. पुनर्जन्म और क्रम-विकास, पृ० 156



को बुरा कहती है, वैदिक नीति वहाँ बुरा सोचने को भी । अतः यह अधिक मौलिक एवं उत्कृष्ट है । श्री अरविन्द की मान्यता है कि 'ऋत्म्' की बढ़ती हुई क्रियाओं के परिणामस्वरूप मानवसत्ता में विस्तार तथा पवित्रता की, साह्लाद एवं समस्वरता की शक्तियों का व्यक्तीकरण हो जाता है । वह व्यक्तीकरण अपने स्वरूप में समृद्ध, 'ऋत्म्' की विशालता में प्रतिष्ठित तथा अत्मानस चेतना की शक्तियों का भोक्ता होता है ।<sup>1</sup> उन्होंने अत्मानस को तत्त्वतः 'ऋत-चित्' कहा है ।<sup>2</sup>

यदि ऋत् इस संसार में परिव्याप्त नहीं होता तो कहीं भी नियमबद्धता नहीं होती तथा नैतिकता का कोई मूल्य भी नहीं रह जाता । मनुष्य ही नहीं देवी-देवता भी इसका पालन दृढ़ता से करते हैं । ऋग्वेद के एक मंत्र में इसका सुन्दर उदाहरण देखा जा सकता है, जहाँ कहा गया है कि "दिन के प्रारम्भिक काल को जानती हुई अंधकार से चमकती हुई उषा उत्पन्न हुई है । यह युवती प्रतिदिन नियत स्थान पर पहुँच जाती है तथा नियमों का उल्लंघन कभी नहीं करती ।"<sup>3</sup> उषा यद्यपि अंधकार के पश्चात् आती है तथापि वह देदीप्यमान है, क्योंकि वह ऋत् के मार्ग का कभी उल्लंघन नहीं करती । वह अत्यधिक सुन्दरी है परन्तु उसका सौन्दर्य स्वच्छन्दवारी न होकर नियम-बद्ध है । स्वच्छन्द सौन्दर्य में उच्छृङ्खलता के कारण कुरूपता अथवा हीनता उत्पन्न हो जाती है । अतः सौन्दर्य को यथावत् रखने तथा उसमें निरन्तर वृद्धि के लिए

1. वेद-रहस्य §पूर्वार्द्ध§, पृ० 120

2. पुनर्जन्म और क्रम-विकास, पृ० 334

3. जानत्यह्नः प्रथमस्य नाम शुक्रा कृष्णादजनिष्ट द्वितीया ।

ऋतस्य योषा न मिनाति धामाहरहर्निष्कृताचरन्ती ॥ ऋ० १, 123, 9

ऋत के मार्ग का अनुसरण अनिवार्य है। उषा पुरानी देवी है तथापि वह नवीन है क्योंकि वह ऋत का अनुसरण करती है।<sup>1</sup>

ऋत को सत्य का पर्याय कहना न्याय संगत नहीं है, क्योंकि ऋग्वेद में बताया गया है कि मरुतों ने ऋत के द्वारा सत्य को प्राप्त किया।<sup>2</sup> गतिशीलता में जो नियमबद्धता है वह ऋत है तथा सत्ता का स्वत्व सत्य है। सत्य का स्थान ऋत से उच्च है परन्तु उस तक पहुँचने का मार्ग ऋत ही है। जीवन में जब नियमबद्धता होगी तभी मनुष्य अन्ततोगत्वा सत्य तक पहुँच सकेगा। नैतिक पथ से ही चलकर सत्य तक पहुँचा जा सकता है।

अश्विनी कुमारों के वाङ्मूक का वर्णन करते हुए ऋग्वेद में कहा गया है - " हे अश्विनी कुमारो ! तुम्हारा जो शब्दयुक्त सौन्दर्य तथा ऋत से युक्त वाङ्मूक है, उसके द्वारा यज्ञ को सोम-रस से मिश्रित करो।"<sup>3</sup>

ऋग्वेद में देवयुग्म का वर्णन अश्वारोही के रूप में भी किया गया है। अतः यहाँ उसी के कारण इनके वाङ्मूक का भी वर्णन किया गया है। इनका वाङ्मूक सत्य, सुन्दर तथा मधुर है। यदि सत्य एवं सौन्दर्य कहीं है तो वहाँ शिव स्वतः उपस्थित हो जायेगा। यहाँ 'मधुमती' शब्द उत्ती शिवत्व को प्रकट कर रहा है। इस वाङ्मूक के द्वारा वे संसार को ऋत पर चलाने का प्रयास करते हैं। अतः यह विधि का विधान है। यह विधान कोई कर्त्तव्य तथा उत्पीडक

1. उषो वाजेन वाजिनि प्रवेता स्तोमं जुषस्व गृणतो मेघोनि ।

पुराणी देवि युवतिः पुरंधिरनु व्रतं वरासि विश्ववारे ॥ ऋ0 3,61,1

2. ऋतेन सत्यमृत्साप आयुष्विजन्मानः शुक्लः पावकाः । ऋ0 7,56,12

3. या वां कक्षा मधुमत्यश्विना सूनृतावती ।

तथा यज्ञं मिमिक्षत् ॥ ऋ0 1,22,3

नहीं है, प्रत्युत सत्य, सौन्दर्य एवं शिव से युक्त एक प्रेरक शक्ति है ।

जिस प्रकार कल्याणार्थक शब्द 'शिव' को धारण करते हुए भी शिव संहार के देवता है अर्थात् उनमें निर्माण एवं विनाश दोनों ही शक्तियाँ विद्यमान हैं उसी प्रकार ऋत में जहाँ मधुरता है, वहाँ कर्कशता भी । अतः स्पष्ट है कि ऋत के दो रूप हैं - सौन्दर्यमय एवं उग्र । मनुष्य को प्राकृतिक सौन्दर्य तथा सद्य - प्रवृत्ति से जो प्रसन्नता प्राप्त होती है वह ऋत का सौन्दर्यमय रूप है । जब ऋत दुष्टों को दण्डित करने को उद्यत होता है तो वह उसका उग्र रूप है । ऋत का उग्र रूप किन्के लिए है इसका वर्णन निम्नलिखित मंत्र से प्राप्त होता है -

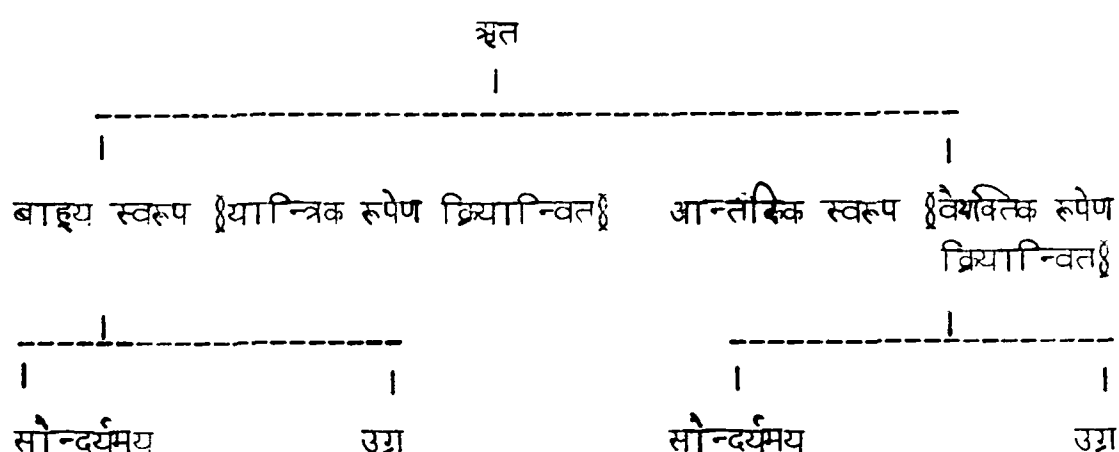
"हे ब्रह्मणस्पते ! निन्दकों को तथा अन्धकार को समाप्त करके तুম ऋत के प्रकाशमान रथ के ऊपर विराजमान हो । यह रथ भयंकर है , बाधक तत्त्वों को दूर करने वाला, नाशक तत्त्वों का हनन करने वाला, बाड़ों को भेदने वाला तथा स्वर्ग को प्राप्त कराने वाला है ।"

यहाँ अन्धकार तथा निन्दक के मध्य उपमान एवं उपमेय सम्बन्ध है । ब्रह्मणस्पति ऋत के द्वारा निन्दकों को उसी भाँति समाप्त करते हैं ; जिस प्रकार ऋत के ही द्वारा सूर्य अन्धकार को दूर करता है । ऋत का रथ प्रकाशमान है । अतः यह अन्धकार के साथ ही अज्ञान को भी दूर करने वाला है । इसकी भयंकरता केवल पापियों एवं अनेतिक आवरण करने वालों के लिए है । ऋत को रथ जैसा कह कर उसकी गतिशीलता को प्रकट किया गया है ।

1. आ वि॒बा॒ध्या॒ परि॒रा॒प॒स्त॒मा॒प्ति॒ व॒ ज्योति॑ष्मन्त॒ रथ॑मृतस्य॒ तिष्ठ॑सि ।  
बृ॒ह॒स्प॒ते भी॒मम॑मि॒त्रद॑म्भ॒नं रक्षो॑ह॒णं गो॒त्र॒भि॒दं स्व॑र्वि॒दम् ॥

उसकी इसी गतिशीलता के कारण संसार में नियमवत्ता है । इसके द्वारा ही देवताओं का अवतरण एवं मनुष्यों का आरोहण होता है ।

ऋत के समग्र स्वरूप की अवगति अधोनिर्मित ढंग से करायी जा सकती है -



### निष्कर्ष

देवता सन्मार्ग से चलते हैं, क्योंकि वे सत्य के स्वामी तथा ऋत के ज्ञाता हैं ।<sup>1</sup> जो ऋतज्ञ होगा वही नैतिक भी होगा । क्योंकि देवता ऋतज्ञ है, अतः वे मनुष्यों को नीति के पथ पर ले जाने में समर्थ हैं । ऋषि इसी कारण उनसे आश्रय की आकांक्षा करता है । जिस प्रकार बिना भित्ति

1. ऋ0 7,35,12/15

के कोई भवन नहीं स्थायी रह सकता तथा बिना नींव के कोई भित्ति नहीं टिक सकती उसी प्रकार सद्बिवार के बिना मनुष्य की स्थिति संभव नहीं है। सद्बिवार का आधार ऋत है जिसका पालन करने वाला निष्पाप तथा दीर्घायु होता है ।<sup>1</sup> यदि मनुष्य वैदिक नैतिकता के प्रति पूर्णतः संवेत हो तो वह दुष्कर्मों से सुरक्षित रह सकता है ।<sup>2</sup> देवत्व में जो व्यक्ति विश्वास करता है उसका कभी क्षय नहीं होता, क्योंकि देवता ऋत-जात<sup>3</sup> एवं ऋत-रक्षक होते हैं ।<sup>4</sup> देवताओं की इच्छा है कि मनुष्य सन्मार्गी हो, इसके लिए वे ऋत के सिद्धान्त को सर्वत्र स्थापित करने हैं ।<sup>5</sup> नैतिक जीवन का मापदण्ड ऋत है, जो कि प्राचीनतम है । इसे जीवन में अवतरित करने के लिए वैदिक विचारों की तथा धार्मिक संस्कारों की आवश्यकता है । जिन्हें अपने जीवन में परम-तत्त्व का कोई आभास नहीं होता तथा जो वास्तविकता को नहीं देखते वे अन्धे तथा बधिर हैं । ऐसे दुष्कर्मों ऋत के मार्ग को कभी पार नहीं कर सकते ।<sup>6</sup>

1. स नो विश्वाहो सुकुरादित्यः सुपथाकरत् । प्रण आयूषि नारिषत् ।।

ऋ0 1,25,12

2. ऋतस्य हि शुद्ध्यः सन्ति पूर्वर्तस्य धीर्त्विर्जिनानि हन्ति ।

ऋतस्य श्लोको बधिरा तर्द कर्णा बुधानः शुक्मान् आयोः ।। ऋ0 4,23,8

3. नू चित्स भ्रेषते जनो न रेषन्मनो यो अस्य घोरमाक्वितासात् ।

युजैर्य इन्द्रे दधते दुर्वासि क्षयत्स राय ऋतुणा ऋतेजाः ।। ऋ0 7,20,6

4. देखें, ऋ0 1,151,6 / 1,1,8 / 1,152,1 / 7,104,12 आदि

5. ते हि सत्या ऋतस्पृशे ऋतावानो जनेजने ।

सुनीयासः सुदानवोऽहोशिव दुरुवक्रयः ।। ऋ0 5,67,4

6. प्रत्नान्मानादध्या ये तमस्वरुल्लोक्यन्त्रासो रभसस्य मन्त्वः ।

अपान्क्षासो बधिरा अहासत ऋतस्य पन्था न तरन्ति दुष्कृतः ।। ऋ0 9,73,6

ऋत का अनुगमन कौन कर सकता है इसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि ॥हे इन्द्र ! तुम्हारा नेत्र स्वर्ग में भी विस्तृत रूपेण फैला है । वर्षा को अवरोध करने वाले मेघ में जो उज्ज्वल जल-समूह है, उसे तुम सब दिशाओं में प्रेषित करते हो । तुम पालक, उत्तम इच्छा शक्ति वाले तथा मायाओं को दूर करने वाले हो, अतः तुम्हारा नाम ऋत पर आश्रित है ।<sup>1</sup> यहाँ इन्द्र को उत्तम इच्छा-शक्ति से सम्पन्न कहा गया है । अपनी इसी इच्छा-शक्ति के कारण वह ऋत पर प्रतिष्ठित हैं । मनोवैज्ञानिकों का भी विचार है कि मनुष्य के प्रत्येक व्यवहार के पीछे कोई न कोई आन्तरिक आवश्यकता अथवा इच्छा होती है । अतः उसके प्रत्येक कार्य 'प्रेरक' के द्वारा होते हैं । प्रेरकों का कार्य मनुष्य को किसी व्यवहार के लिए क्रियाशील बना देना होता है ।<sup>2</sup> अतः 'सुकृत' प्रेरक तत्त्व का कार्य करना है । आचार-शास्त्रियों ने भी नैतिकता का अधिष्ठान मनुष्य के संकल्प में माना है ।<sup>3</sup> शुभ संकल्प के द्वारा ही व्यक्ति नैतिक नियमों के प्रति आकृष्ट होता है । इसी कारण वैदिक ऋषि प्रार्थना करता है कि "हे उषे ! ऋत की रश्मि को ग्रहण करते हुए कल्याणकारी इच्छा-शक्ति को हमारे भीतर धारण कराओ । हे उषः ! आज सरलता से आह्वान करने योग्य तुम विशेष रूपेण प्रकाशित हो तथा मेरे भीतर तथा अन्य उदार चेता के भीतर सम्पत्ति हो ।"<sup>4</sup> ऋषि को ज्ञान है कि देवता ऋतगामी होने हैं, फलतः

1. श्रिये सुदृशीरुणेररत्य याः स्वर्विरोक्मानः कुक्षोमवोदते ।

सुगोणा अस्ति न दभानः सुकृतो णरो मायाभिर्धृत आस नाम ते ॥ ऋ0 5,44,2

2. डा० रामकुमार राय, आमामान्य मनोविज्ञान, पृ० 47-48

3. श्रीक कुमार वर्मा, प्रारम्भिक आचार-शास्त्र, पृ० 30

4. ऋतस्य रश्मिमेनुयच्छमाना भद्रं भद्रं क्रतुमस्मासु धेहि ।

उषो नो अद्य सुहवा व्युच्छास्मासु शयो मधवत्सु च स्युः ॥ ऋ० 1,123,13

उन्में अन्य को भी इस मार्ग पर चलाने की शक्ति होती है । इसी कारण वह उनसे प्रार्थना करता है कि उसके जीवन में भी इस कल्याणकारी इच्छा-शक्ति का उदय हो । जब व्यक्ति में शुभ संकल्प होगा तब वह ऋत के प्रति उन्मुख होगा तथा जब ऋत के प्रति वह जागरूक होगा तभी उत्तमें शुभ-संकल्प का उदय होगा ।

## 2.2. ऋत का अभाव-निर्घृति

वैदिक ऋषियों ने ऋत के साथ-साथ 'निर्घृति' का भी स्वरूप-रूप किया है । डा० सूर्यकान्त ने इसे 'विनाश, विलय, रक्षोजाति देवता' पदों के द्वारा व्याख्यायित किया है ।<sup>1</sup>

मैत्रायणी संहिता में इसका सम्बन्ध अश्रमणी तथा निद्रा से बनाया गया है ।<sup>2</sup> कीथ इसे 'संहार' अथवा 'दुर्भाग्य' की देवी बताते है।<sup>3</sup> मैकडानल ने इसे 'मृत्यु की अधिष्ठात्री देवी' कहा है ।<sup>4</sup> सायण ने 'उपद्रवकारिणां रक्षसाम्' कहकर इसके स्वरूप पर प्रकाश डाला है ।<sup>5</sup> ऋत एक व्यवस्था का नाम है<sup>6</sup>, जिसमें औचित्य है । परन्तु निर्घृति उसके विपरीत है । ऋत यदि

1. ए प्रैविडुल वैदिक डिक्शनरी, पृ० 385

2. III, 2.3

3. वैदिक धर्म एवं दर्शन, पृ० 262

4. वैदिक देवशास्त्र, पृ० 313 & अनु० डा० सूर्यकान्त

5. देखें ऋ० 3, 24, 24 पर सायण भाष्य

6. ऋतं यथाशास्त्रं यथाकर्तव्यं बुद्धो सुपरिनिश्चितमर्थं, तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षावल्ली पर शंकर भाष्य

सन्तुष्टि है तो निर्धृति तृष्णा । अतः अजन्म तप के द्वारा हुआ है - अतः  
 च सत्यं चाभीदात्तपसोऽध्यजायत ।<sup>1</sup> अतः स्पष्ट है कि निर्धृति का आवि-  
 र्भाव इसके विपरीत होगा अतः परमन्तत्त्व के अन्तर्गत गतिशीलता का तत्त्व है।  
 इसी से संसार उत्पन्न हुआ है ।<sup>2</sup> निर्धृति इस व्यवस्था को भङ्ग करने वाली  
 शक्ति का नाम है । वेद जीवन से निर्धृति को अपसृत करके अतः पर चलने की  
 शिक्षा देता है ।<sup>3</sup>

जिसके जीवन में अतः की नियमबद्धता नहीं होती, वह निर्धृति  
 के वशीभूत होकर स्वच्छन्दचारी, द्वेषी तथा कुमार्गगामी हो जाता है ।<sup>4</sup> यह  
 मार्ग नरक जैसा गहरा है निर्धृति का स्वरूप इस मन्त्र द्वारा भली-भाँति जाना  
 जा सकता है - " हे सोम-रुद्र ! हमारे गृह में प्रवेश करने वाले रोग को दूर  
 करो तथा निर्धृति को हमसे दूर करो । हम अन्न प्राप्ति द्वारा सुख प्राप्त करेंगे<sup>5</sup>  
 यहाँ रोग तथा निर्धृति को एक ही श्रेणी के अन्तर्गत रख कर उनसे सुरक्षित रहने

1. अ० 10, 190, 1

2. देखें, पुरुष सूक्त अ० 10, 90

3. मो षु णः परापरा निर्धृतिर्दुर्हणो वधीत् ।

प्रदीष्ट तृष्ण्या सह ॥ अ० 1, 38, 6

4. आन्तरो न योषणो व्यन्तः पत्निरिणो न जनयो दुरेवाः ।

पापासः सन्तो अन्ता अन्त्या इदं पदमजनन्ता गभीरम् ॥ अ० 4, 5, 5

5. सोमरुद्रा विवृहन् विष्वीममीवा या नो गयमाविवेश ।

आरे बाधेथा निर्धृति पराचैरस्मे भद्रा सोश्रवसानि सन्तु ॥



की कामना की गई है । यदि स्वास्थ्य का अभाव रोग है तो श्रुत का अभाव निर्धृति । उक्त मन्त्र पर दृष्टिपात करके सहज ही कहा जा सकता है कि निर्धृति एक अभावात्मक शक्ति है । इसी प्रसंग में अन्यत्र कहा गया है कि "हे वज्रिन् ! त्वं निर्धृति को जानने हो, उसका निवारण करना भी त्वं जानने हो, जैसे सूर्य पशु-पक्षी का नित्यशः शोधन करता है उसी प्रकार त्वं अभावात्मक शक्तियों को दूर करते हो ।"<sup>1</sup> देवताओं को श्रुतज्ञ कहा गया है, परन्तु यहाँ इन्द्र को निर्धृति का भी ज्ञाता कहा जा रहा है । इन्द्र चूँकि ऋग्वेद के सर्वाधिक शक्ति सम्पन्न देवता हैं, अतः उन्हीं से उपद्रवकारिणी तथा नियमहीनता की शक्ति निर्धृति को दूर करने के लिये कहा गया है । यह कहा जा सकता है कि देवी शक्तियाँ ऐतत्किता को उसी प्रकार दूर करती हैं जैसे सूर्य अन्धकार को । निर्धृति के स्वरूप को मनोवैज्ञानिक रीति से उपस्थित करते हुए एक मन्त्र में कहा गया है कि "दोलता हुआ पाषाण राक्षसों को दूर भगाये, दुःस्वप्न, निर्धृति तथा समस्त नाशक तत्त्वों को दूर भगाये । आदित्यगण तथा मरुद्गण के कल्याण को हम भोगें । देवताओं की उन सुरक्षा की हम आकांक्षा करते हैं ।"<sup>2</sup> इस मन्त्र में दुःस्वप्न तथा निर्धृति का वर्णन एक साथ किया गया है, जिससे प्रतीत होता है कि दोनों में किञ्चित् सम्बन्ध है । इन दोनों के अमृतल्य राक्षस तथा नाशक तत्त्वों का भी उल्लेख किया गया है । अतः दुःस्वप्न तथा निर्धृति में राक्षसी तथा नाशक शक्तियों का होना स्वाभाविक है । ऐसी स्थिति में स्वप्न के सम्बन्ध में वैदिक ऋषियों की मान्यता पर विचार कर लेना उपादेय होगा ।

1. वेत्या हि निर्धृतीनां वज्रहस्त परिवृजम् ।

अहरहः शुन्ध्युः परिपदामिव ॥ ऋ0 8, 24, 24

2. ग्रावा वदन्नपु रक्षांसि मेधतु दुष्टस्वप्न्यु निर्धृतिं विश्वमन्त्रिणम् ।

आदित्यं शर्म मरुतामशीमहि त्वेवानामवो अघा वृणीमहे ॥ ऋ0 10, 36, 4

### 2.2.1. स्वप्न-मीमांसा

बृहदारण्यकोपनिषद्<sup>1</sup> में कहा गया है कि व्यक्ति जो कुछ जाग्रतावस्था में देखता है, वही वह स्वप्नावस्था में भी प्रायः देख लिया करता है ।

प्रशस्तपाद<sup>2</sup> ने स्वप्न के तीन कारण बताये हैं - संस्कार-पाटव, धातु दोष तथा अदृष्ट । प्रथम कारण की विकृति में वे कहते हैं कि कामी अथवा क्रुद्ध पुरुष जिस विषय का चिन्तन करता हुआ सोता है उसकी चिन्ता-सन्तति स्वप्न में प्रत्यक्ष रूपेण दृष्टिगोचर होती है । द्वितीय कारण को उदाहृत करते हुए वे कहते हैं कि वात प्रकृति अथवा वात दूषित व्यक्ति आकाश में गमन, पित्त-प्रकृति व्यक्ति अग्नि प्रवेश तथा स्वर्ण-पर्वत, एवं कफ-प्रकृति व्यक्ति सरित् अथवा समुद्र का स्वप्न देखता है । अन्तिम के विषय में उनका कथन है कि विचित्र स्वप्नों का उदय प्रसिद्ध ही है ।

आधुनिक मनोविज्ञान भी उपर्युक्त कारणों ही के अनुसार अपच, हिंसात्मक कथा का पठन अथवा किसी भयानक घटना किंवा चित्र के दर्शन आदि को दुःस्वप्न का कारण बताता है ।<sup>3</sup>

फ्रायड<sup>4</sup> ने स्वप्न को अवचेतन के अन्तर्द्वन्द्वों तथा दमित इच्छाओं का दर्पण माना है । उसके अनुसार जाग्रतावस्था में जिस वस्तु को दमित अथवा त्यक्त किया जाता है वह निद्रा में पुनः स्वप्न के रूप में आ

1. 4,3,9,-14

2. आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 244

3. टी० आर० हेरीसन, प्रिंसिपल्स ऑफ इन्टर्नल मेडीसिन, पृ० 129

4. डा० रामकुमार राय, असामान्य मनोविज्ञान, पृ० 214

जानी है । यदि इन्हें जाग्रतवस्था में से पूर्णतः समाप्त कर दिया जाय तो ये स्वप्न व्यापार शनैः-शनैः समाप्त हो जाते हैं ।

यूंग<sup>1</sup> ने स्वप्नों को वैयक्तिक अवचेतन तथा सामूहिक अवचेतन से उद्भूत माना है । उसका कथन है कि कोई व्यक्ति ऐसा भी स्वप्न देख सकता है जो उसके जीवन से साक्षात् सम्बद्ध न होकर सदस्यों वर्षों पूर्व की किसी घटना को प्रतिफलित कर सकता है जिसकी कि अपने निजी जीवन में प्रकल्पना भी न उठी हो ।

श्री अरविन्द<sup>2</sup> ने स्वप्न के ऊपर विचार करते हुए लिखा है कि निद्रा का अर्थ है अन्तर्गमन, जिसमें उपरित्तीय आत्मा तथा बाह्य जगत् इन्द्रियानुभूत तथा दृष्टि-शक्ति से परे हो जाते हैं । गहन अवचेतना के ऊपरी तल पर एक अस्पष्ट सतह प्लवन करती रहती है । व्यक्ति समझता है कि स्वप्न इसी स्तर से आते हैं, किन्तु वास्तव में वे वहाँ केवल अंकित होते हैं । जब व्यक्ति गहन निद्रा में चला जाता है तो उसे निःस्वप्न की स्थिति प्रतीत होती है । परन्तु उस समय भी स्वप्न आते रहते हैं किन्तु वे इतने गहन तल में होते हैं कि अंकित करने वाले स्तर पर पहुँच ही नहीं पाते अथवा विस्मृत कर दिये जाते हैं ।

मनोवैज्ञानिक भी इस मत से सहमत हैं । उनके अनुसार जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में तारे दृष्टिगोचर नहीं होते परन्तु उनका अस्तित्व सदैव विद्यमान रहता है उसी प्रकार चेतन मन के क्रियाशील रहने स्वप्न दिखाई

1. प्रो० एस०पी० सिंह, अरविन्द एण्ड यूंग, पृ० 20

2. श्री अरविन्द के पत्र {द्वितीय भाग}, पृ० 514-15

नहीं पड़ने परन्तु अववेत्न में विद्यमान होते हैं। यदि कोई गहरे और संकीर्ण कूप जिसमें सूर्य का प्रकाश न पहुँचता हो में प्रवेश करे तो उसे दिन में भी तारे दिखाई पड़ सकते हैं। इसी प्रकार वेत्न मन के सक्रिय रहते हुए भी दिवास्वप्न देखा जा सकता है। आधुनिक मनोविज्ञान के इस सिद्धान्त को सहस्रो वर्षों पूर्व ऐन्तरेयोपनिषद् ने भी प्रतिपादित करते हुए तीन प्रकार के स्वप्नों का उल्लेख किया है। वे हैं जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्तावस्था से सम्बद्ध। वह तीनों ही अवस्थाओं को स्वप्न के नाम से पुकारती है।<sup>1</sup> आधुनिक मनोविज्ञान<sup>2</sup> ने भी इस दिशा में अनेक उपयोगी प्रयोग किये हैं। इलेक्ट्रोन्स फेलोग्राफी {Electroence Phalography} के विश्लेषणानुसार निद्रा की पाँच अवस्थाएँ होती हैं। प्रथम अवस्था में व्यक्ति की माँस-पेशियाँ शिथिल होने लगती हैं, नेत्रच्छद झुक जाते हैं तथा नेत्र-गोलक एक दिशा से दूसरी दिशा में गति करते हैं। द्वितीय अवस्था में नेत्र-गोलकों की गतिशीलता भी समाप्त हो जाती है, किन्तु माँस - पेशियाँ पूर्णतः विश्रान्त नहीं होतीं। ये तृतीय तथा चतुर्थ अवस्था में जाकर शान्त होती हैं, जिसे गहन निद्रा कहते हैं। अन्तिम अवस्था में नेत्र-गोलकों में पुनः गति उत्पन्न हो जाती है। प्रथम चार अवस्थाओं को "अतीव्र नेत्र आन्दोलन निद्रा" {Non Rapid Eye - Movement sleep} तथा अन्तिम को "तीव्र नेत्र आन्दोलन निद्रा" {Rapid Eye Movement sleep} कहते हैं। यह क्रिया एक रात्रि में चार से छः बार होती है। तृतीय अवस्था ही सुषुप्ति है।

इन समस्त सिद्धान्तों के आलोक में यह कहा जा सकता है कि स्वप्नों का कारण अववेत्न ही होता है तथा दुःस्वप्नों का कारण व्यक्ति के

1. त्रयः स्वप्ना ..... देवे ऐन्तरेयोपनिषद् 3/12

2. टी० आर० हेरीसन, प्रिंसिपल्स ऑफ इन्टर्नल मेडीसिन, पृ० 127

अवचेत्न में निहित उसके संस्कार है । यदि किसी प्रकार का भय, इच्छा अथवा पापादि अवचेत्न में विद्यमान होंगे तो उनसे चेत्ना भी प्रभावित होकर रहेगी । यही पापादि दुःस्वप्न के रूप में आकर व्यक्ति को पीड़ित करते हैं । स्वप्न में व्यक्ति अधिक मौलिक होता है । वहाँ उसका वास्तविक एवं स्पष्ट रूप प्रकट होता है, क्योंकि वहाँ विचार मूर्त किन्तु प्रतीकात्मक रूप में प्रकट होते हैं । इसी कारण फ्रायड ने मनोविश्लेषण में स्वप्नों का अध्ययन आवश्यक माना था ।

उपर्युक्त मतानुसार यदि दुःस्वप्नों का साक्षात् सम्बन्ध अवचेत्न से होता है तो निश्चित रूपेण निर्धृति भी अवचेत्न से सम्बद्ध होगी । परन्तु निर्धृति को प्रकारान्तर से नाशक कहा गया है, जिसे प्रकट होता है कि यह अवचेत्न का घातक पक्ष है । उस घातक पक्ष में हिंसा एवं अव्यवस्था की समस्त सम्भावनाएँ निहित होती हैं । इसकी पुष्टि में ऋग्वेद में निर्धृति को दुः-स्वप्नों का कारण बनाने हुये कहा गया है कि - "हे दुःस्वप्न के अधिदेव !. तुम दूर जाओ, दूर जाकर विवरण करो, दूर हटो, दूर तुम निर्धृति से कह दो कि मैं एक जीवित प्राणी हूँ, मेरा मन अनेक वस्तुओं में आसक्त है ।"<sup>1</sup>

यहाँ स्पष्टतया उसे दूर करने की प्रार्थना की जा रही है जो दुःस्वप्न का कारण बनता है । निर्धृति ही दुःस्वप्नों का कारण है । निर्धृति अव्यवस्था है तथा अवचेत्न के तार तन्त्र भी अव्यवस्थित होते हैं । निर्धृति को तृष्णा भी कहा गया है<sup>2</sup> तथा अवचेत्न का निर्माण भी दमित इच्छाओं के द्वारा होता है । अतः निर्धृति को देवी-विशेष न मानकर अवचेत्न के घातक

1. अ० हि० मनसस्पृते ऽ प० क्राम पुरश्चर ।

पुरो निर्धृत्या आ चक्ष्व बहुधा जीवन्तो मनः ॥ ऋ० 10, 164, 1

2. देखें, ऋ० 1, 38, 6

पक्ष की प्रतीक मानना अधिक न्याय संगत है ।

निष्कर्ष

---

वैदिक ऋषि को इसका ज्ञान है कि वेत्तन मन के द्वारा जो कुछ भी दमित अथवा अस्वीकृत होता है वह अवचेत्तन में प्रविष्ट होकर उसका अङ्ग बन जाता है । अतः उसके लिये स्वप्न इस बात के सूचक होते हैं कि वस्तुओं का मूल बहुत गहराई में है, जिन्हें उच्छिन्न करना सरल नहीं है । यदि उसे दुःस्वप्न आते हैं तो उन्हें वह मात्र स्वप्न जान कर उपेक्षित नहीं कर देता प्रत्युत उनके मूल में जाने का प्रयास करता है । इस प्रयास के परिणामस्वरूप उसे निर्मृति अर्थात् अवचेत्तन के घातक पक्ष का ज्ञान होता है । वह दुष्कर्मा से दूर रहकर ऋत का पालन करता है । उसे ज्ञात है कि इसी पथ के अनुसरण द्वारा निर्मृति से मुक्ति संभव है तथा निष्पाप रहकर ही इस पथ पर चला जा सकता है एवं दुःस्वप्नों से सुरक्षित रहा जा सकता है ।<sup>1</sup>

### 2.3. ऋत के अभाव का परिणाम - मनोदेहिक रोग

---

ऋत के मार्ग का पालन व्यक्ति तथा समाज में व्यवस्था एवं शान्ति उत्पन्न करता है जबकि निर्मृति का परिपालन समाजमें अव्यवस्था तथा व्यक्ति में अनेक प्रकार की चिन्ताएँ एवं व्याधियाँ उत्पन्न करता है । इस मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति अन्य की उत्तमी हानि नहीं करता, जिन्मी वह अपनी

---

1. अजैष्माद्यासनाम् वाभू मानागसो व्यम्

उषो यस्माद्दुष्पुष्पान्याद भेष्माप् तदच्छ त्वनेहसो व ऊत्यः सुऊत्यो व ऊत्ये :

ऋ0 3,47,13

करता है। इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए एक मन्त्र में कहा गया है कि "मेरे सरल व्यवहार के उपरान्त भी जो अपनी वाणी में कुटिल बातें बोलते हैं वे स्वतः नष्ट हो गए।"<sup>1</sup> यहाँ सरल चित्त व्यक्ति के प्रति प्रयुक्त अप-शब्द अथवा कुटिलता का दुष्परिणाम बताया गया है। वैदिक मान्यता है कि जो व्यक्ति ऋजु स्वभाव वाले एवं निष्पाप व्यक्ति के प्रति किसी प्रकार का दुष्कर्म करता है अथवा उस पर किसी प्रकार का पाप आरोपित करना चाहता है वह स्वयं उसका भोक्ता बन जाता है,<sup>2</sup> क्योंकि खाने वाला स्वयं भी खाया जाता है।<sup>3</sup> यही बात अन्यत्र इस प्रकार कही गयी है कि "जो मुझे राक्षस कहकर मारना चाहता है वह दुष्ट व्यक्ति अपनी ही चेष्टाओं के द्वारा मारा जाय।"<sup>4</sup> इसे प्रतीत होता है कि दुष्कर्म कर्त्ता पर भी प्रत्यावृत्त होता है तथा उसे नष्ट कर देता है।

यहाँ शंका उत्पन्न होती है कि क्या व्यक्ति अपने ही दुष्कर्मों के द्वारा नष्ट हो सकता है? क्या व्यक्ति के कृत्य उसे रोग ग्रस्त कर सकते हैं? क्या व्यक्ति अपनी कुटिल बुद्धि के द्वारा प्रस्तारित पाश में फँस कर मृत्यु को प्राप्त हो सकता है? क्योंकि ऋग्वेद में कहा गया है कि "हे बृहस्पते! तুম हमारे संरक्षक हो, मार्ग निर्माता हो, विशेष दृष्टि-शक्ति से तपन्न हो, तुम्हारा नियम संसार में व्याप्त हो इस कारण हम स्तुति करते हैं। हमारे

1. अधूर्षत स्वयमेते वचोभिर्ब्रूयते वृजिनानि ब्रुवन्तः ॥ ३० 5,12,5

2. यो न आगो अयेनो भरात्यधी दधमघशसे दधात ।

जुही चिकित्वो अभिशस्तिमेतामग्ने यो नो मर्वयति द्रुयेन ॥ ३० 5,3,7

3. अयेतेऽस्ति व भूतानि, तेन्निरीयोपनिषद् 2,1

4. यो नः कश्चिद्विरिक्षति रक्षस्त्वेन मर्त्यः ।

स्वैः ष एवरिरिषीष्युर्जनः ॥ ३० 8,18,13

चतुर्दिक् जो कोई व्यक्ति कुटिलता का आचरण करता है उसकी अपनी ही दुर्बुद्धि प्रबल शक्ति धारण करने वाली बने तथा उसे मार डाले ।<sup>1</sup> वैदिक ऋषि ऋतज्ञ देवताओं का नियम संसार में चाहता है । परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जो इस का विरोध करते हैं । इस प्रकार के व्यक्ति को कुटिल तथा विनाश-कारिणी बुद्धि वाला कहा गया है । ऐसे ऋत विरोधी व्यक्ति अपने विनाश की भूमि अपने कर्मों द्वारा ही तैयार कर लेते हैं । ऋत जब एक व्यवस्था का प्रतीक है तो जो कोई भी उससे पलायन करेगा उसके जीवन का अव्यवस्थित हो जाना स्वाभाविक है । प्रकारान्तर से कहा जा सकता है ऐसे व्यक्ति की मनःस्थिति ही उसे परास्त कर देती है, जिसके परिणामस्वरूप उसके भीतर अनेक प्रकार की व्याधियों का जन्म होता है । मनःस्थिति शारीरिक रोगों को उत्पन्न करने में सक्षम है अथवा नहीं, इस प्रश्न का उत्तर मनोविज्ञान के सिद्धान्त के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है ।

### 2.3.1. मनोदैहिक रोग

मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि मानसिक तथा संवेगात्मक तत्त्वों का शारीरिक स्वास्थ्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है । मानसिक अव्यवस्था का प्रभाव शरीर पर पड़ता है, जिससे शरीर में विभिन्न प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं । प्रत्यक्ष रूप से शरीर रूग्ण होता है परन्तु उसका मूल कारण प्रायः मानसिक होता है । इस प्रकार के रोगों को "मनोदैहिक रोग" § Psycho Somatic Diseases § कहते हैं ।<sup>2</sup> यह रोग उस अवस्था का नाम है जब

1. त्वं नो गोपाः पथिकृद्विचक्षणस्त्वं व्रताय मृतिभिर्जरामहे ।

बृहस्पते यो नो अभि ह्वरो दधे स्वा त मर्मर्तु दुच्छन्ता हरेस्वन्ती ॥ ऋ0 2,23,6

2. डा० रामकुमार राय, आसामान्य मनोविज्ञान, पृ० 183



शारीरिक अवरोध तथा मानसिक दुर्बलता का कारण बन होता है।<sup>1</sup> यह स्वचालित स्नायु प्रणाली {Automatic nervous system} की प्रक्रिया से सम्बन्धित होता है तथा स्वेगात्मक कारणों द्वारा प्रकट होता है।<sup>2</sup>

इस रोग के कारणों के विषय में मुख्य तीन सिद्धान्त प्रसिद्ध हैं -

#### 2.3.2. व्यक्तित्व परिच्छेदिका सिद्धान्त {Personality Profile theories}

इसके मतानुसार व्यक्ति का स्वभाव, व्यवहार, प्रकृति, प्रतिक्रिया प्रवृत्ति तथा अन्य व्यवहारिक रूप इस रोग में प्रमुख रूप से सहायक होते हैं।<sup>3</sup>

#### 2.3.3. स्वायत्तता सम्बन्धी अधिगम सिद्धान्त {Automatic Learning theory}

इसके प्रवर्तक लक्ष्मण महोदय हैं। इनका मत है कि ये रोग प्रायः घटित होने वाली अथवा दीर्घकालिक अथवा प्रचण्ड अव्यक्त प्रतिक्रियाओं के परिणाम हैं जो कि ग्राहक के स्वेगों द्वारा उत्पन्न होती हैं।<sup>4</sup>

1. शेल्डन जे० लक्ष्मण, साइको सोमेटिक डिसऑर्डर्स, पृ० 5

2. वही, पृ० 7

3. वही, पृ० 54

4. वही, पृ० 63

#### 2.3.4. उद्दीपन-परिस्थिति सिद्धान्त § Stimulus-situation theories §

---

इसके अनुसार भावनात्मक प्रेरणाएँ ही शारीरिक अवयवों की विनाशक हैं।<sup>1</sup>

उपर्युक्त सिद्धान्तों के आलोक में कहा जा सकता है कि मनो-देहिक रोग वह दशा है जिसमें दुश्चिन्ता तथा मानसिक अव्यवस्था की प्रमुख भूमिका होती है जिसके परिणामस्वरूप शरीर की रासायनिक क्रियाओं एवं उसके विभिन्न अवयवों की नैसर्गिक क्रियाओं पर इतना प्रबल प्रभाव पड़ता है कि उनमें विकार उत्पन्न हो जाता है। विकार धीरे - धीरे शारीरिक रोग के रूप में परिणत हो जाते हैं।

इस विषय पर प्रकाश डालने वाली 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' §WHO§ की एक सूचना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। उसके अनुसार "आर्थिक उन्नति एवं सामाजिक परिवर्तन व्यक्ति के मानस पर पुष्कल प्रभाव डालते हैं। मनोवैज्ञानिक-तनाव, मद्य-पान, दुर्घटनाएँ, अशिक्षा, हिंसा, अपराध तथा पारिवारिक विघटन आदि के कारण यह रोग उत्पन्न होता है। अतः अब समय आ गया है कि मनोवैज्ञानिकों को मनुष्यों की आर्थिक समस्याओं की अपेक्षा उनकी मानसिक समस्याओं पर ध्यान देना होगा।<sup>2</sup> क्योंकि आज संसार में अनुमानतः 500 लाख व्यक्ति मानसिक रूप से रुग्ण हैं।"<sup>3</sup>

---

1. शेल्डन जे0 लक्ष्मण, लाइको सोमेटिक डिस्ऑर्डर्स, पृ0 58

2. सोशल डाय्मिन्शनस ऑफ मेन्टल हेल्थ, डब्ल्यू.एच.ओ, जेनेवा, 1981, पृ0 7-3

3. वही, पृ0 26

मनोदैहिक रोग के अन्तर्गत निम्नलिखित रोग उत्पन्न हो सकते हैं -

उच्च रक्त-चाप, उदर का व्रण, उच्च अम्ल-पित्त, व्यामोह {Delusions}, भूख की अनिच्छा, दमा, अतिसार, हृदय-रोग, उत्कण्ठा, उन्माद {Hysteria}, पक्षाघात {Plegia}, निद्रावार, मिरगी {Fit}, अन्धता, बधिरता, मनोविदलना {Schizophrenia}, गठिया, सिर दर्द तथा चर्म रोग आदि ।

इन समस्त सिद्धान्तों के प्रकाश में वैदिक ऋषियों की मान्यता सत्य प्रमाणित होती है कि मनुष्य स्वतः अपना नाश कर सकता है । परन्तु यह नाश अवचेतन रूपेण ही होता है । अतः जिसमें संकीर्णता अथवा पाप है, जो निन्दक, दुर्वाची तथा निर्भ्रति का पालक है वह स्वयमेव नष्ट हो जाता है! क्योंकि उसकी मानसिक स्थिति ही उसके शरीर में विकार उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है ।

जब भी व्यक्ति कोई कर्म करता है उसका प्रभाव प्रथमतः चेतन मन पर पड़ता है, तदुपरान्त वह अवचेतन में निमग्न हो जाता है । चेतन मन विशेषकर उन कर्मों की स्मृति को अवचेतन में प्रेषित करता है जो उसे रुचिकर नहीं लगतीं अर्थात् जिसे उसका अहंकार अथवा उच्चाहंकार अनुमति नहीं प्रदान करता । परन्तु वह दमित अथवा विस्मृत स्मृति नष्ट नहीं होती प्रत्युत सदैव चेतन मन को आक्रान्त करने की चेष्टा करती रहती है । इस प्रकार अन्तर्द्वन्द्व आरम्भ होता है, जिसके परिणाम स्वरूप मनोदैहिक रोग अस्तित्व में आते हैं।

ये रोग अव्यक्त के घातक पक्ष के कारण उत्पन्न होते हैं अथवा वैदिक भाषा में कहा जाय तो 'निर्धृति' के कारण ।

यदि किसी के प्रमस्तिष्क {Cerebral} में कोई विकार उत्पन्न हो जाय तो उसमें सामाजिक मूल्यों की अवहेलना, समाज से संघर्ष तथा नियमहीनता के साथ ही अपराध की भावना भी उत्पन्न हो जाती है । ऐसा व्यक्ति यौन-सम्बन्धी सामाजिक नियमों का भी उल्लंघन कर सकता है ।<sup>1</sup> इसका एक उदाहरण ऋग्वेद में प्राप्त होता है - "जो तुम्हारा भाई पति बनकर अथवा जार बनकर तुम्हारे समीप जाता है, जो तुम्हारी गर्भस्थ संतान का हनन करता है उसका यहाँ से हम नाश करते हैं ।"

सामाजिक प्रवृत्ति के कारण कभी-कभी व्यक्ति अपनी इच्छाओं का दमन न कर सकने के कारण अनेक कार्य कर जाता है । ऐसे कृत विरोधी व्यक्ति का नाश हो जाता है, क्योंकि जो समाज-विरोधी कार्य करेगा उसमें उपेक्षित सामाजिक नियम ही विन्ता एवं व्याकुलता उत्पन्न कर मनोदैहिक रोग उत्पन्न कर देंगे । उसके कृत्य ही उसकी समाप्ति के कारण बन जायेंगे । इसे ही प्रकारान्तर से देवताओं द्वारा दण्डित होना कहा गया है ।

यह सर्व विदित है कि मानसिक स्थिति शारीरिक रोग उत्पन्न कर सकती है । परन्तु ऐसे रोग जो जीवाणुओं {Bacteria} द्वारा उत्पन्न समझे जाते हैं, क्या उनमें भी मन की कोई भूमिका हो सकती है ? क्योंकि

1. टी० आर० हेरीसन, प्रिंसिपल्स ऑफ़ इन्टर्नल मेडीसिन, पृ० 157

2. यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निषद्यते ।

प्रजां यस्ते विधायन्ति तमितो नाशयामसि ॥

ऋ० 10, 162, 5

ऋग्वेद इसका अनुमोदन करते हुए कहता है कि "हे मित्र - वरुण ! जो व्यक्ति सबसे द्रोह करता है, तुम दोनों के लिए सोम भी नहीं निकालता, वक्र मार्ग से चलकर लोगों से द्रोह करता है, वह यक्ष्मा रोग को अपने हृदय में स्वयम् रखता है, जबकि ऋतु पर चलने वाला होतृ के द्वारा इसके विपरीत प्राप्त करता है ।"<sup>1</sup> यहाँ स्पष्टतया मानसिक स्थिति को शारीरिक विकार उत्पन्न करने वाली कहा जा रहा है । यह रोग उस व्यक्ति में उत्पन्न होता है जो कुटिलता का आचरण करता है, आनन्द के प्रतीक स्वरूप सोम को नहीं निकालता तथा निर्धृति का पालन करता है ।<sup>2</sup> उक्त मन्त्र में ऋतु के अनुसरण का लाभ तथा उसके विपरीत निर्धृति के अनुसरण की हानि को प्रत्यक्ष रूपेण बताया गया है ।

प्रस्तुत मन्त्र में मनोदैहिक रोग के रूप में यक्ष्मा § १८० § का उल्लेख किया गया है । परन्तु इसे मनोदैहिक स्वीकार किया जाय अथवा नहीं इस विषय में विवाद है । वैज्ञानिकों का कथन है कि यक्ष्मा रोग "ट्यूबर्कल बैसिलस" § *Tubercle bacillus* § नामक जीवाणु द्वारा उत्पन्न होता है। अतः प्रश्न हो सकता है कि यदि यह रोग जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न होता है तो इसमें मन की क्या भूमिका हो सकती है ? इसके उत्तर में एस०जे० लक्ष्मण का विचार है कि मनोदैहिक रोग के कारण शारीरिक प्रतिरोधक-शक्ति का ह्रास हो जाता है जिसके कारण व्यक्ति में अनेक प्रकार के रोगों के उत्पन्न होने की संभावनाएँ बढ़ जाती हैं ।<sup>3</sup> उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि

1. ननो यो मित्रावरुणावभिधृगुपो न वां सुनोत्यक्ष्णयाधुक् ।

स्वयं स यक्ष्मं हृदये नि धत्त आप् यदी होत्राभिर्धृतावा ॥ ऋ० १, १२२, ९

2. अपि हत रक्षसो भङ्गु रावेतः स्तुभ्यत् निर्धृतिं सेधतामन्तिम् ।

आ नो रुयिं सर्ववीरं सुनोत्स देवाव्यं भरत श्लोकमद्रयः ॥ ऋ० १०, ७६, ४

3. टाईलो सोमेटिक डिजाँडर्स, पृ० ६८

संवेगात्मक प्रेरणाओं के प्रति शारीरिक प्रतिक्रियाएँ रोग में वृद्धि अथवा ह्रास कर सकती हैं ।<sup>1</sup>

बर्ग नामक चिकित्सक ने अपने तीन वर्षीय यक्ष्मा रोगियों के ऊपर अनवरत परीक्षणोपरान्त यह निष्कर्ष निकाला कि यौन विवादों के कारण इस रोग की धात्कता में वृद्धि हो जाती है ।<sup>2</sup> चिकित्सक पुम्पुस यक्ष्मा रोग § Pulmonary T.B. § के उपचार हेतु मनश्चिकित्सा को ही पर्याप्त मानते हैं ।<sup>3</sup>

अतः उपर्युक्त विवरणों के आधार यह स्पष्ट हो जाता है कि यक्ष्मा रोग भी मनोदैहिक रोग के अन्तर्गत आता है ।

### निष्कर्ष

फ्रायड ने मानव-व्यवहार की दो मूलभूत प्रेरक शक्तियों की कल्पना की है, जिनमें से एक को उसने रचनात्मक § Eros § तथा दूसरी को विध्वंसात्मक § Thanatos § कहा है ।<sup>4</sup> जब तक व्यक्ति में रचनात्मक प्रवृत्ति की प्रधानता बनी रहती है तब तक उसके जीवन में संतुलन बना रहता है । परन्तु जब विध्वंसात्मक प्रवृत्ति अधिक शक्तिशाली हो जाती है तब वह मानसिक रोगी हो जाता है अथवा उसके व्यवहार में अभियोजन विषमता § Maladjustment § उत्पन्न हो जाती है ।<sup>5</sup>

1. सार्डको सोमेटिक डिस्ऑर्डर्स, पृ० 164

2. वही, ,

3. वही, पृ० 165

4. डा० रामकुमार राय, असामान्य मनोविज्ञान, पृ० 198

5. वही, पृ० 199

इसी भाँति ऋग्वेद ने भी दो मार्ग बताये हैं - ऋत तथा निर्धृति। प्रथम उत्थान एवं कल्याण का मार्ग है तथा दूसरा पतन एवं नाश का। ऋत गामी में सवेत्तन मानसिक अथवा प्राणिक नियन्त्रण स्थापित हो जाता है जिसके कारण वह अवचेत्तन द्वारा अधिकृत नहीं होता। उसका जीवन निष्पाप, शृज, स्वस्थ तथा अहंकार मुक्त होता है। यही कारण है कि यदि वैदिक ऋषि में अथवा उसके परिवार में कहीं पाप है तो उसे वह स्वीकार करने में लेश- मात्र भी संकोच नहीं करता<sup>1</sup> जिससे उसके अवचेत्तन का रेचन हो जाता है तथा उसमें मनोविकार उत्पन्न नहीं होता।

श्री अरविन्द<sup>2</sup> का मत है कि जब तक व्यक्ति के अन्तस् में कोई दोष, कोई अपवित्रता, दुर्बलता अथवा अज्ञान न हो तब तक कोई विपत्ति उस पर नहीं आ सकती अथवा कोई विरोधी शक्ति उसे परास्त नहीं कर सकती। इसी लिये ऋग्वेद में चित्त की सरलता पर अत्यधिक बल दिया गया है।<sup>3</sup>

यदि प्रकृति में भी कोई ग्रहादि निर्धृति का अनुगमन करते हैं तो परिणामस्वरूप विभिन्न प्रकार के विप्लव तथा उत्पात आदि उत्पन्न हो जाते हैं। इसके विपरीत ऋत का पालन करने के कारण प्रकृति में एक संतुलन विद्यमान रहता है। इसी प्रकार वैयक्तिक स्तर पर भी जो निर्धृति के पथ पर जाता है वह समाज के संग अपनी भी हानि करता है तथा मनोदैहिक रोगों से भी ग्रस्त हो जाता है। ऋतगामी का जीवन नियमबद्ध स्वन्त्रता से सम्पन्न होता है

1. ऋ0 4,3,13

2. श्री अरविन्द के पत्र §तृतीय भाग§, पृ0 630

3. ऋ0 2,26,1

जबकि निर्द्धिगामी का जीवन उच्छृंखल स्वतंत्रता से वस्तु । श्रुत का कार्य है वेत्तन से अववेत्तन तक को सुव्यवस्थित रखना जबकि निर्द्धि का कार्य है वेत्तन से अववेत्तन तक को अव्यवस्थित करना । यही कारण है कि वैदिक श्रुषि श्रुतज्ञ देवताओं की स्तुति करता है, निर्द्धि के पोषक कृत्रादि की नहीं ।<sup>1</sup>

=0=

---

1. .... व्यमिन्द्रे<sup>1</sup> स्त्वास् नानृतम् ॥ श्रु 8,62,12



ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥  
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥  
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

## तृतीय अध्याय =====

### अनैतिक आचरण के कारण -----

- 3.1. वैदिक मत
  - 3.1.1. इच्छा शक्ति
  - 3.1.2. सुरा पान
  - 3.1.3. घृत क्रीडा
  - 3.1.4. अज्ञान
  - 3.1.5. दुर्बलताएँ
- 3.2. नीति शास्त्रियों का मत
- 3.3. मनोवैज्ञानिकों का मत

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥  
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥  
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

### तृतीय-अध्याय

#### अैत्तिक आचरण के कारण

ऋषियों ने सदाचार के नियमों का साक्षात्कार अत्विन्म के धरात्म पर प्रनिष्ठित होकर लिया था । मनुष्य का देवत्व तक आरोहण तथा देवत्व का मनुष्य तक अवरोहण ही उनका लक्ष्य था । इस लक्ष्य तक भली-भाँति पहुँचा जा सके इसके लिए उन्होंने ऋत के मार्ग का अनुसंधान किया । यह एक प्रकार की शाश्वत व्यवस्था है जिसका पालन करके कोई भी कल्याण को प्राप्त कर सकता है ।

परन्तु यह संसार द्वन्द्वात्मक है । यहाँ प्रत्येक वस्तु में द्वन्द्व है। सत्य-असत्य, प्रेम-घृणा, राग-विराग, जीवन-मृत्यु, प्रकाश-अंधकार तथा पदार्थ-अपदार्थ आदि इसके उदाहरण हैं । अतः स्वाभाविक है कि ऋत का प्रतिरूप तत्त्व भी विद्यमान होना चाहिए । ऋग्वेद में उस ऋत विरोधी तत्त्व को 'निर्घृति' की संज्ञा से उपहित किया गया है ।

यह सत्य है कि इस संसार के अस्तित्व का आधार द्वन्द्वात्मकता है । परन्तु क्या कारण है कि ऋत से परिचित होकर भी व्यक्ति निर्घृति के प्रति उन्मुख होता है ? यह सर्वाभौम सत्य है कि सत्कर्मों से सुख की प्राप्ति होती है एवं दुष्कर्मों से दुःख की । परन्तु क्या कारण है कि दुःख की अभीप्सा

न होते हुए भी व्यक्ति दुष्कर्मों के प्रति आकर्षित होता है ? वे कौन सी परिस्थितियाँ होती हैं जिनमें व्यक्ति नैतिकता का परित्याग कर अनैतिकता का आश्रय लेता है ? इन प्रश्नों के सम्बन्ध में विचार कर लेना आवश्यक है ।

### 3.1. वैदिक मत

ऋग्वेद में मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुरूप ही अनैतिकता के अनेक कारणों का उल्लेख किया गया है । जिनमें घेन्न तथा अवघेत्न दोनों ही प्रकार के कारण सम्मिलित हैं ।

#### 3.1.1. इच्छा-शक्ति

मनुष्य 'निर्द्विनि' अथवा अनीति का अनुसरण क्यों करता है ? इस प्रश्न पर विचार करते हुए ऋग्वेद में कहा गया है कि मनुष्य के भीतर अनेक प्रकार की इच्छायें वास करती हैं जिनके वशीभूत होकर वह पाप भी कर बैठता है ।<sup>1</sup> यहाँ 'स्पष्टतया 'इच्छा-शक्ति' का उल्लेख किया गया है ।

उपर्युक्त वैदिक मान्यता<sup>2</sup> को शोपेनहॉवर ने भी स्वीकार करते हुए कहा है कि व्यक्ति के समस्त कार्य 'इच्छा-शक्ति {will} के कारण होते हैं । यह इच्छा समस्त वस्तुओं में प्राप्त होती है । जड़ों में भी

1. ... पुलुकामो हि मर्त्यः ॥ ऋ0 1, 179, 5

2. तूना करो- काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ गीता, 3/37

एक परमाणु की दूसरे परमाणु की ओर प्रवृत्ति है। यही जगत् की गति का कारण है। यह इच्छा कभी ज्ञानपूर्वक होती है तो कभी अज्ञानपूर्वक। यह एक श्रेष्ठ-शक्ति है जिससे देश-कालगत स्रस्त वस्तुएँ निर्मित हुई हैं। यही इच्छा संसार का मूल है। मनुष्यों में इच्छा का अस्त्र बुद्धि है। बुद्धि कभी-कभी इच्छा के वास्तविक रूप को छिपा देती है तथा व्यक्ति को ज्ञात नहीं होता कि किस इच्छा के द्वारा कौन व्यक्ति प्रवृत्त है।

शिलर एवं जेम्स ने भी व्यक्ति के जीवन में 'इच्छा-शक्ति' की प्रधानता को स्वीकार करते हुए बुद्धि को उसकी अनुवरी कहा है।<sup>1</sup>

हेनरी बर्गस<sup>2</sup> ने 'इच्छा' के स्थान पर 'एलां वित्' § *Elan vital* § अर्थात् 'जीवनी-शक्ति' शब्द का प्रयोग किया है परन्तु अर्थ की दृष्टि से दोनों समान हैं। यह जीवनी-शक्ति धारा की भाँति निरन्तर भिन्न-भिन्न दिशाओं में प्रवाहित होती है। यह वनस्पति, पशु-पक्षी तथा मनुष्य आदि के रूप में व्यक्त होती है।

उक्त पाश्चात्य दार्शनिकों के मत का पूर्व रूप स्वयं ऋग्वेद में प्राप्त होता है, जहाँ कहा गया है -

"काम, जो मन का प्रथम विकार था, उसमें सर्व प्रथम उत्पन्न हुआ। बुद्धिमानों ने हृदय में प्रज्ञा से उद्धार कर नामरूपात्मक जगत् का कारण नामरूपरहित तत्त्व में पाया।"<sup>3</sup>

1. देखे, रामावनार शर्मा, यूरोपीय दर्शन

2. वही

3. कामस्त्वद्वो सम्वर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।

ततो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या क्वयो मनीषा ॥ ऋ0 10, 129, 4

नैतिकरीयोपनिषद् में भी 'काम' अथवा इच्छा को सृष्टि का आधार बताया गया है ।<sup>1</sup>

इस प्रकार प्राच्य एवं पाश्चात्य दोनों ही ज्ञानधाराएँ इस तथ्य से सहमत हैं कि व्यक्ति के भीतर 'इच्छा' होती है जिससे प्रेरणा ग्रहण करके ही वह विभिन्न क्षेत्रों में क्रियाशील होता है ।

उपर्युक्त मत को सुस्पष्ट करने हुए ऋग्वेद में अन्यत्र कहा गया है कि -

"हे धनवान् कुरु ! इच्छा-शक्ति की दुर्बलता के कारण मैं विपरीतगामी हो गया था, हे पवित्र कुरु ! हे उत्तम शासक ! मेरे ऊपर कृपा करो , कृपा करो ।"<sup>2</sup>

उक्त मन्त्र द्वारा यह तथ्य भी उद्घाटित होता है कि व्यक्ति में जब इच्छा-शक्ति क्षीण हो जाती है तो वह पाप के प्रति उन्मुख हो जाता है । अतः अन्तरात्मा कभी भी पाप की अनुमति नहीं देता । काण्ट<sup>3</sup> का विचार है कि 'शुभ संकल्प' का प्रत्यय प्रत्येक मानव में पहले ही से विद्यमान रहता है । परन्तु वैयक्तिक सीमाएँ व बाधाएँ अनेक बार शुभ संकल्प का विरोध करती हैं । इस विरोधिता के कारण ही व्यक्ति विपरीतगामी हो जाता है । जिस प्रकार सामूहिक अवेग्न में निहित 'छाया' के बिम्ब निर्माणकारी एवं विध्वंसकारी दोनों ही होते हैं, उसी प्रकार वह 'इच्छा' सर्जनात्मक भी

1. सोऽकामयत । बहु स्यां प्रजायेयेति ॥ 6/1

2. क्रत्वः स्मह दीनतां प्रतीपं जग्मा श्रुवे ।

मूका सुक्त्र मूक्य ॥ ऋ0 7,89,3

3. डा0 छाया राय, काण्ट का नीति-दर्शन, पृ0 8

हो सकती है एवं विध्वंसात्मक भी । 'ज्ञान-शक्ति' के दुर्बल होने पर इच्छा-शक्ति प्रचण्ड हो जाती है । वह व्यक्ति को ऐसे कार्यों में संलग्न कर देती है जो कि अनेतिक होते हैं । इसी कारण नीति के देवता वरूण से प्रार्थना की गई है ।

वैदिक ऋषि केवल समस्या रखकर मौन नहीं हो जाना अपितु वह उसका समाधान भी प्रस्तुत करता है । ऋषि जहाँ अनेतिकता के कारण के रूप में इच्छा-शक्ति की दुर्बलता की ओर संकेत करना है वहाँ वह उसके निराकरण का विशद उपाय भी प्रस्तुत करते हुए कहता है कि ॥ मित्र-वरूण तथा अन्य देवता जो कि उदम्य है ये अपनी दक्षता के द्वारा अवेत्न के भीतर चेत्मा लाते हैं। पाप के पार जाकर ये अन्तश्चेत्मा से युक्त इच्छा-शक्ति को सन्मार्ग पर ले जाते हैं ।<sup>1</sup>

यह सर्वविदित है कि प्रत्येक जीव में इच्छा-शक्ति होती है । परन्तु यदि वह अन्तश्चेत्मा से युक्त न हो तो व्यक्ति दुष्कर्मों के प्रति आसक्त होता है । बुद्धि के तत्त्व पर व्यक्ति में पाप की भावना होती है परन्तु उसके परे अन्तश्चेत्मा में वह निष्पाप होता है । यही तत्त्व है जो उसे उचित मार्ग पर ले जाता है । अतः उक्त मन्त्र में अन्तरात्मा अथवा विवेक को उद्दीप्त करने की बात कही जा रही है जिससे कि नीति का जन्म होता है । इसी विवेक शक्ति को काण्ट ने 'शुभ संकल्प' की संज्ञा दी है जिसकी अभिव्यक्ति उसने नैतिक कर्मों के माध्यम से बतायी है ।<sup>2</sup>

1. इमे मित्रो वरूणो दूक भासोऽवेत्सं चिच्चित्थन्ति दक्षैः ।

अपि क्रतुं सुवेत्सं वतन्तिस्तिरश्चिदहः सुपथा नयन्ति ॥ ऋ0 7,60,6

2. डा० छाया राय, काण्ट का नीति-दर्शन, पृ० 8

रीड<sup>1</sup> का विचार है कि जिस प्रकार बाह्य इंद्रियों के द्वारा हमें बाह्य विषयों का ग्रहण होता है उसी प्रकार 'अन्तःकरण' § *Moral Sense* § से उचित - अनुचित का विचार होता है। यह विचारक शक्ति पारमार्थिक होती है। यही कारण है कि ऋषि 'अन्तःकरण' को प्रबुद्ध करने की बात करता है। अन्तःकरण की इसी प्रकृति को ध्यान में रखते हुए कालिदास ने भी कहा है कि "संदेहशील वस्तुओं के विषय में सज्जनों की अन्तःकरण की प्रवृत्तियाँ प्रमाण होती हैं।"<sup>2</sup>

अतः नैतिक व्यक्ति के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह अन्तरात्मा की ध्वनि को सुने एवं तत्पश्चात् क्रियाशील हो। यदि उसकी इच्छा-शक्ति अन्तःचेत्मा से कियुक्त होगी तो वह धिक्सात्मक कार्य करेगा।

उपर्युक्त मनो से यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य के समस्त व्यापार उसकी इच्छा के ऊपर ही निर्भर हैं।<sup>3</sup> अतः इच्छा के नैतिक - अनैतिक होने के ऊपर ही आचार शास्त्र भी निर्भर होगा। इसी कारण व्यक्ति के विचारों एवं इच्छाओं में परिवर्तन लाये बिना वास्तविक नैतिकता का जन्म नहीं होता। यदि इच्छाएँ शुभ होंगी तो कार्य भी शुभ होंगे तथा जो शुभ है वही नैतिक है।

### 3.1.2. सुरापान

वैदिक वाङ्मय में सोम की प्रशंसा में अनेक ऋचाएँ विद्यमान हैं।

1. देखे, रामावतार शर्मा, यूरोपीय दर्शन

2. सतां हि संदेह पदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरण प्रवृत्त्यः। शाकन्तुम्, 1/19

3. विश्वा हि मर्त्यत्वानुकामा शक्त्रतो।

अग्नौ वज्रिन्नाशसः॥ अ० 8, 92, 13

परन्तु सोम के विपरीत 'सुरा' की निंदा की गई है। ऋषियों ने सुरा के कारण उत्पन्न अण्यवस्था एवं अनेत्किता को भली-भाँति समझा है। अतः विश्व में सर्वप्रथम सुरापान पर प्रत्निबन्ध एवं निंदा की बात यदि कहीं देखी जा सकती है तो वह ऋग्वेद में है।

ऋग्वेद के सातवें मण्डल में ऋषि आत्म-विश्लेषण करते हुए प्रश्न करता है कि वरुण की घृणा का कारण क्या है ?<sup>1</sup> वह जानना चाहता है कि उससे ऐसा क्या कार्य हो गया है जिसके कारण मित्रवत् व्यवहार करने वाले अपने स्तोता का वरुण वध करना चाहते हैं। वह अपने पाप के विषय से परिचित होकर उससे मुक्त होने का इच्छुक है, क्योंकि समस्त कदर्यताओं के पारायण के पश्चात् ही देवत्व तक जाना सुगम होता है।<sup>2</sup> ऋषि के समक्ष वास्तविक समस्या अपने व्यवहार को नैतिक बनाये रखने की नहीं है अपितु अपने अंतस् में तिरोहित पाप के मूल कारण को नष्ट करके आत्म परिष्कार की है। यदि उससे कोई पाप हो भी जाता है तो केवल क्षमा-याचना द्वारा ही वह मुक्ति नहीं चाहता प्रत्युत 'कार्य-कारण' सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए वह ऐसे उपाय का आश्रय ग्रहण करता है जिससे कि उसके जीवन-रूपी प्रांगण में पाप रूपी बीज का पुनरंकुरण न हो सके।

अनेत्किता के कारण के रूप में सुरा अथवा मद्य का उल्लेख करते हुए ऋषि कहता है<sup>3</sup> -

1. देखें , ऋ0 7,86,3

2. किमाग आस वरुण ज्येष्ठं यत्स्तोतारं जिघांससि सरवायम् ।

प्रतन्मे वोवो दूष्म स्वधावोऽव त्वानेना नमसा तुर इयाम् ॥ ऋ0 7,86,4

3. न स स्वो दक्षीवरुण धृतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः ।

अस्ति ज्यायान्कनीयस उपरि स्वप्नश्चेदनुतस्य प्रयोता ॥ ऋ0 7,86,6



“हे वरुण ! वह मेरी दक्षता नहीं थी, वह किसी प्रकार का स्थिर विधान था, सुरा की मादकता में, क्रोध में, जुए के कारण अथवा अज्ञान की स्थिति में मैंने किया था । जो लघुतर है उस पर विशालतर प्रभावी हो जाता है, स्वप्न भी हमें असत्य के संग जोड़ता है ।”

यह सत्य है कि ऋषि की इच्छा पाप नहीं करना चाहती है । फिर भी मदिरा, क्रोध, जुआ स्वप्न आदि उसकी चेतना को आक्रान्त करके उससे पाप करवाने हैं । यहाँ सुरा का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है । अतः इसका विवेकन भी आवश्यक है ।

मनोवेज्ञानिकों<sup>1</sup> का मत है कि मदिरा मस्तिष्क के त्वक् में एक प्रकार की त्रियाशून्यता उत्पन्न कर देती है । स्मृति तथा अन्य मानसिक संवेगों को अक्रुद्ध करने वाली क्रियाएँ त्वक् में ही अवस्थित होती हैं । अतः त्वक् की त्रियाशून्यता मद्यपायी को दुःखद स्मृतियों एवं विचारों के प्रभाव से मुक्त कर देती है । अतः चेतन मन की समस्त चिन्ताओं से दूर जाने के लिए लोग मद्य-पान करते हैं । परन्तु इसका परिणाम भयंकर होता है । मद्यपान के द्वारा चेतना-शक्ति के साथ ही विवेक-शक्ति भी व्याहत हो जाती है तथा नैतिक-अनैतिक का भी भान नहीं रह जाता । इस विषम परिस्थिति में व्यक्ति के अचेतन में दमित वासनाएँ प्रभविष्णु होकर उसके आचरण के द्वारा प्रकट होती हैं । व्यक्ति किंकर्तव्यविमूढ़ सा अपनी वासनाओं का अनुकर्त्ता मात्र बनकर रह जाता है । कार्ल मेनिजर ने मद्यपान के दुर्व्यसन को आंशिक आत्महत्या का ही एक रूप माना है ।<sup>2</sup> अधिकांश मनोवेज्ञानिक दमित काम-वासना को इसका कारण बताते हैं ।<sup>3</sup>

1. डा० रामकुमार राय, असामान्य मनोविज्ञान, पृ० 303

2. वही, पृ० 302

3. वही,

मनु ने सुरा को अन्नो का तथा पाप का मल कहा है । इसे पिशाचों का पेय पदार्थ बताने हुए उन्होंने कहा है कि मद्य से मूढ़ हुआ ब्राह्मण अक्लिष्ठ स्थान में गिरेगा, अनुचित रीति से वेद का उच्चारण करेगा तथा अन्य अकार्य करेगा । ऐसा ब्राह्मण फिर ब्राह्मण भी नहीं रह जाता, वह शूद्र हो जाता है ।<sup>1</sup>

कुरआन में मद्य की निन्दा करते हुए कहा गया है कि यह वैमनस्य एवं द्वेष को उत्पन्न करने वाला पदार्थ है । इसका सेवनकर्त्ता परमसत् एवं उपासना से दूर चला जाता है ।<sup>2</sup> कुरआन ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को ध्यान में रखकर कि यहवेत्मन के दुःखों से क्षणिक निवारण प्रदान करता है, कहा है कि इसमें लाभ भी निहित है परन्तु इसकी हानियाँ इसके लाभ से अत्यधिक हैं।<sup>3</sup>

इस प्रकार यह कहना समीचीन होगा कि सुरा ऐतत्किता को जन्म देने वाले प्रमुख कारणों में से एक है । इसका निरन्तर सेवन करते रहने से विवेक-शक्ति धीरे-धीरे क्षीण हो जाती हैं । अव्येन्न में सुषुप्त वासनाएँ विवेक-शक्ति-रूपी प्रहरी के मृतकल्प होते ही दुर्धर्ष रूप में प्रकट होती हैं । ये अपनी सिद्धि के लिये व्यक्ति को ऐतत्कि कर्मों से संसक्त करती हैं । वह इच्छा न होते हुए भी असहाय होकर अपनी ही आवर्जित क्षुद्रताओं से नियंत्रित होकर पापपूर्ण कृत्य करता है । अतः श्रुग्वेद इस नीति को उत्पन्न करने वाली सुरा की निन्दा करता है ।

1. आचार्य दीनानाथ सिद्धान्तालंकार, प्राचीन भारत की नीतियाँ, पृ० 80-81।

2. अल-माइदा §5§ -9।

3. कुरआन, अल-बक़रा §2§ - 2।9

### 3.1.3. द्यूत-क्रीडा

ऋग्वेद के 'कित्त्व सूक्त' में द्यूत-क्रीडा की अनेक दृष्टियों से निन्दा की गई है। यह निन्दा पूर्णतः मनोवैज्ञानिक पद्धति पर आधारित है। 'कित्त्व सूक्त' के अध्ययन से प्रतीत होता है कि मानो ऋषि स्वयं जुआरी हो। परन्तु वास्तविकता यह है कि किसी भी घटना अथवा वस्तु का चाहे वह आध्यात्मिक हो अथवा आधिभौतिक वर्णन करते समय ऋषि उससे तादात्म्य स्थापित कर लेता है। इस तादात्म्य के कारण ही उसके उत्ताल विचारों की अग्न धारा अद्यापि प्रवाहित है।

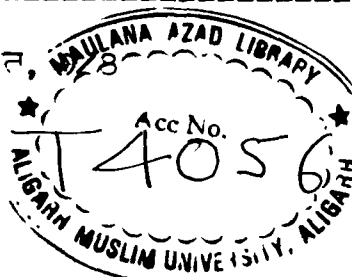
वैदिक काल में जुआ आज की भाँति 'ताश के पत्तों' से नहीं प्रत्युत 'इरिण' तथा 'विभीदक' की सहायता से खेला जाता था। 'इरिण' उस द्यूत फलक § Dice-board § को कहते थे जिस पर विभीदक के फल से निर्मित अक्ष अथवा गोठियाँ फेंकी जाती थी।<sup>1</sup>

द्यूत-क्रीडा में ऐसा क्या आकर्षण है जिसके प्रति व्यक्ति स्वतः उन्मुख हो जाता है, इसका सुन्दर विवेचन उक्त सूक्त में किया गया है। वहाँ कहा गया है कि जब फलक पर अक्ष फेंका जाता है तो ऐसा प्रतीत होता कि वह नृत्य कर रहा हो। उसका वह नृत्य आनन्ददायी होता है।<sup>2</sup> जब कभी जुआरी इससे दूर रहने का निश्चय करता है तो सुन्दर वर्ण वाले शब्दायमान अक्ष उसे बलात् आकर्षित कर लेते हैं। वह अपने पूर्ववर्णी प्रप को भग्न कर खेलने चला जाता है।<sup>3</sup>

1. देखे, यास्कीय निरुक्त,

2. ऋ0 10, 34, 1

3. ऋ0 10, 34, 5



बुद्ध ने तीन प्रकार की 'एषणाओं' का वर्णन किया था -  
वित्तैषणा, लोकैषणा तथा पुत्रैषणा । उन्होंने वित्त को अधिक महत्त्वपूर्ण  
माना था । जुआरी भी धन के लोभ में अक्ष के समीप जाता है । धनी होने  
की उसकी यह आकांक्षा अक्षों के द्वारा निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होती है ।  
वासना दुष्पूर होती है उस का अनुगामी होना वर्तुल का घूर्ण होना है ।  
परन्तु अक्ष उसकी 'इच्छा' को उत्कट रूप में पुष्ट करते हैं ।<sup>1</sup> यही कारण है  
कि व्यक्ति सरलता से इसके प्रति आकृष्ट हो जाता है ।

इस आकर्षण का परिणाम क्या होता है, इसका भी विस्तार  
से उल्लेख किया गया है । जुआरी की पत्नी भी उससे दूर चली जाती है ।  
वह पत्नी कोई स्वेरिणी स्त्री नहीं होती प्रत्युत पत्त्रिन्ता एवं कल्याणकारिणी  
होती है । परन्तु जुए से खिन्न होकर ऐसी पत्नी अपने जुआरी पति का त्याग  
कर देती है ।<sup>2</sup>

जुआरी की पत्नी ही नहीं अपितु सात भी उसे प्रताड़ित  
करती है । उसकी आन्तरिक शक्ति भी जुए के कारण क्षीण हो जाती है । ऐसे  
निर्बल की कोई सहायता भी नहीं करता ।<sup>3</sup>

जुआरी अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिये ऋण भी लेता है ।  
परन्तु जब वह धन नहीं दे पाता तो उत्तमर्ण उससे क्लृप्त अपने धन को प्राप्त

1. सभामेति कित्त्वः पृच्छमानो जेष्यामीति तन्वाश्शूश्रूजानः ।

अज्ञासो अस्य वि तिरन्ति कामं प्रत्तिदीप्ते दधत आ कृतानि ॥ श्रु0 10, 34, 6

2. श्रु0 10, 34, 2

3. द्वेष्टि श्वश्रुरप जाया रुषद्भि न नाथितो विन्दते मर्डितारम् ।

अवस्येव जरतो वरुन्यस्य नाहं विन्दामि कित्त्वस्य भोगम् ॥ श्रु0 10, 34, 3

करने का प्रयास करना है । ऐसी विषम परिस्थिति में उसका साथ देने भाई बन्धु भी नहीं देते एवं उसकी पत्नी को भी अपमानित होना पड़ता है ।<sup>1</sup>

एक पाप से दूसरा पाप किस प्रकार उत्पन्न होता है, इसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि "जुआरी की परित्यक्ता पत्नी दुःखी रहती है, कभी इधर कभी उधर घूमने वाले {जुआरी} की माना भी । शूणी {जुआरी} डरता हुआ धन की कामना करता हुआ रात्रि में {चोरी करने के लिये} दूसरों के घर पहुँच जाता है ।"<sup>2</sup>

यहाँ स्पष्टतया जुए को चोरी का कारण बनाया गया है । घूत-क्रीडा के क्रम में व्यक्ति धन की आकांक्षा करता है । परन्तु जब उसे धन की प्राप्ति नहीं होती तथा जब शून्य के कारण उसे अधिक अपमानित होना पड़ता है तब वह विवश होकर चोरी जैसे पाप के प्रति भी उन्मुख होता है । अतः इस चौर्य कार्य में 'चोरी' गोण है, प्रमुख है जुआ, क्योंकि जुआ कारण है एवं चोरी कार्य ।

जुआरी में निश्चयत्मिका बुद्धि<sup>3</sup> का अभाव होता है । यही कारण है कि वह अनेकशः न खेलने का प्रण करने भी खेलता है ।<sup>4</sup>

परवर्ती साहित्य एवं धर्म-ग्रन्थों ने भी घूत-क्रीडा की अत्यधिक निन्दा की है । मनुस्मृति में जुए की भर्त्सना करते हुए कहा गया है कि घूत

1. श्रु0 10,34,4

2. जाया तप्यते किन्त्वस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्व स्विद् ।

शूणावा विभ्रयदनेमिच्छमानोऽन्येषामत्तमुप नवत्मेति ॥ श्रु0 10,34,10

3. तुलना करें - भोगैश्वर्यप्रसक्तानां न्यापहतचेत्साम् ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ गीता 2/44

4. श्रु0 10,34,11

तथा साहस्य को राजा को अपने राष्ट्र से सम्पाप्त कर देना चाहिये , क्योंकि ये राज्य के नाशक है । प्राणियों {सिक्का, लोड़ी आदि} से जो खेला जाता है उसे घूत कहते हैं एवं जो प्राणियों {भैंस, घोड़ा आदि} से खेला जाता है उसे समाहस्य ।<sup>1</sup>

वाणस्य का कथन है कि जुआरियों में अस्तव्यवादिना का आधिक्य रहता है ।<sup>2</sup> श्री सोमदेवसूरि की मान्यता है कि जुए में आसक्त व्यक्ति के लिए कोई भी कार्य कार्य नहीं है । घर में माता भी मरी हो तो जुआरी जुआ खेलता ही है ।<sup>3</sup> कुरआन ने भी इसे पाप बताकर इसे दूर रहने का निर्देश दिया है ।<sup>4</sup>

उपर्युक्त तथ्यों पर विचार करते हुए ऋषि इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि जुआ कदापि नहीं खेलना चाहिये, क्योंकि इससे अनेक प्रकार के अन्य पापों का भी उदय होता है । जुआरी न तो स्वयं सुखी रहता है, न ही उसके परिवारिक जन । उसका परिवार विघटित हो जाता है । विघटित परिवार समाज में अराजकता को जन्म देता है । अतः इस प्रकार की हानिप्रद दूत-क्रीडा का परित्याग करके कृषि-कार्य में संलग्न होना उत्तम है ।<sup>5</sup>

1. आचार्य दीनानाथ सिद्धान्तलंकार, प्राचीन भारत की नीतियाँ, पृ० 70

2. ज्वाला प्रसाद चतुर्वेदी, वाणस्य नीति दर्पण, 12/18

3. नास्त्यकृत्यं दूतासक्तस्य, मार्त्यपि हिमृतायां दीव्यत्येव कित्त्वः ॥

नीतिवाक्यामृतम् 16/11

4. कुरआन 2/219

5. अस्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः ।

तत्र गावः कित्त्व तत्र जाया तन्मे विवक्षते सवितायमर्यः ॥ श्रु० 10, 34, 13

ऋषि ने जुआ छोड़कर कृषि कार्य करने का परामर्श दिया है , परन्तु वह अन्यत्र कहता है कि "इस लोक में जो पुरुष वेदज्ञ ब्राह्मणों तथा पारलौकिक देवताओं के सहित यज्ञादि कर्मों को नहीं करते, जो स्तुति नहीं करने तथा जो न सोम-याग की ही इच्छा करते हैं, वे पाप के द्वारा अज्ञानी की भाँति केवल लोक-व्यवहार के द्वारा हल चलाने में चतुर होते हैं ।"<sup>1</sup>

यहाँ कृषि-कार्य को मान्यता नहीं दी गई है । अतः प्रश्न हो सकता है कि फिर ऋषि ने जुआरी को कृषि के लिए प्रोत्साहित क्यों किया ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यह सत्य है कि कृषि उस समय का प्रमुख व्यवसाय था तथापि उसे सदैव ज्ञान से निम्नतर समझा गया है । ऋषि जुआरियों की मनःस्थिति से भली-भाँति परिचित हैं । वह जानता है कि ऐसे व्यक्ति लोभी स्वभाव के होते हैं । अतः उनका मन ज्ञान की ओर आकृष्ट नहीं होगा । यदि ऐसे व्यक्ति को ज्ञान की शिक्षा दी जाय तो इसका परिणाम निष्फल ही होगा तथा वह जुए से भी क्लिप्त नहीं होगा । अतः ऋषि प्रथमतः जुए जैसे भौतिक कार्य से व्यक्ति को निकालता है एवं उसे कृषि से संलग्न करता है । जब उसकी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हो जाती है तदुपरान्त उसे वह सन्मार्ग द्वारा देवत्व तक ले जाना है ।<sup>2</sup> इस प्रकार वह व्यक्ति में नैतिक सुधार करने का प्रयास करता है ।

1. इमे ये नार्वाङ्म पुरश्चरन्ति न ब्राह्मणास्तौ न सुतेकरासः ।

न एते वाचमभिपद्यं पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अजज्ञयः ॥ ऋ0 10, 71, 9

2. कृत्वास्तौ यद्रिरिपुर्न दीप्ति यद्वा घा सत्यमुत यन्न विद्म ।

सर्वा ता विष्य शिथिरेव देवाधा मे स्याम वरुण प्रियासः ॥

### 3.1.4. अज्ञान

वैदिक नीति के अनुसार अज्ञान के कारण भी मनुष्य अनेक दुष्कर्म करता है। जब कोई अपनी इच्छा से उत्पन्न कर्मों को देवी शक्तियों से तदात्म्य स्थापित किये बिना ही करता है तो वह पाप है। रामानुज के अनुसार ज्ञानी वही है जो सच्चे कर्म में ही ज्ञान को देखता है।<sup>1</sup> पुण्य अथवा पाप का सम्बन्ध किसी बाह्य कर्म से नहीं होता। जब कोई मनुष्य अपनी वासनाओं तथा इच्छाओं से बद्ध होकर कर्म करता है तब वह अज्ञान से युक्त होकर पाप करता है, परन्तु इसके विपरीत कार्य करने वाला मनुष्य पुण्य करता है।<sup>2</sup>

ऋग्वेद में कहा गया है कि " हे वरुण ! हम मनुष्यों से जो देवताओं के प्रति अपराध हुआ है अथवा अज्ञानवश तुम्हारे कर्म में जो त्रुटि रह गई है, उन पापों के कारण हमारी हिंसा न करना।"<sup>3</sup>

उक्त मन्त्र में यह स्वीकार किया गया है कि मनुष्य से अज्ञान में भी पाप हो जाते हैं। वास्तविकता यह है कि प्रकृति की जो जड़ता है वह मन के अन्दर निष्क्रियता एवं अज्ञान की शक्ति बन जाती है। यह जड़ता एक प्रकार का अन्धकार है जो आत्मा के शान्ति और विश्रान्ति रूपी शाश्वत

1. डा० राधाकृष्णन् , भगवद्गीता, पृ० 165

2. यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं त्माहुः पण्डितं बुधाः ॥ गीता, 4/19

3. यत्किं चेदं वरुण देव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याः श्वरोमसि ।

अधित्ती यत्त्वं धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः ॥



तत्त्व को विकृत करके उसे शक्ति एवं ज्ञान सम्बन्धी निष्क्रियता में परिणत कर देता है ।<sup>1</sup> अतः ऐसी मनःस्थिति में पाप होना स्वाभाविक है ।

इसी प्रकार अन्यत्र कहा गया है कि "हे अग्नि ! मैं वीर {पुत्र} के रहित न रहूँ, वस्त्र की कृष्णता न हो, विवार शून्य अर्थात् दुर्बुद्धि न हूँ, क्षुधा के हाथ में मुझे न दो । हे श्रुत वाले अग्नि ! राक्षस के हाथ में मुझे मत दो, मेरे घर में मेरा विनाश न करो ।"<sup>2</sup>

ऋषि प्रत्येक दशा में कृष्णता अथवा संकीर्णता नहीं चाहता । वह वाहे वस्त्र सम्बन्धी हो अथवा बुद्धि सम्बन्धी । जिस प्रकार वस्त्र के अभाव में शरीर नग्न हो जाता है उसी प्रकार सद्बिचारों के अभाव में आत्मा । अतः ऋषि को न तो बाह्य कोई दुर्बलता प्रीतिकर है तथा न ही आन्तरिक । वह राक्षस एवं विनाश के सङ्ग ही कुमति को भी निन्दित समझता है, क्योंकि वही विनाश की मूल है । पुत्र, वस्त्र तथा भोजन का नाश तो केवल भौतिक नाश है परन्तु बुद्धि का नाश तो सर्वनाश है । जिसमें नैतिक अनेतिक के वचन की शक्ति ही शेष नहीं रही वह सन्मार्ग पर कैसे चल सकेगा? उसका पन्न अवश्यम्भावी है ।

ऋषि के जीवन का लक्ष्य है राक्षसत्व से ऊपर उठकर देवत्व तक जाना । इस कार्य में देवताओं से सहायता की याचना करते हुए वह कहता है कि - " हे देवताओं ! मैं ऐसे स्थान पर आ गया हूँ जहाँ गायों का विवरण

1. श्री अरविन्द, गीता प्रबन्ध, पृ० 486

2. मा नो अग्नेऽवीरते परा दा दुर्वाससेऽमन्ये मा नो अत्ये ।

मा नः क्षुधे मा रक्षसं शतावो मा नो दमे मा क्त्वा जुह्याः ॥

नहीं है, विस्तृत होने के कारण पृथिवी पापियों के विवरण का स्थान बन गई है। है बृहस्पति। गायों के अन्वेषण के क्रम में तुम ज्ञान प्रदान करो, ऐसी स्थिति में है इन्द्र। स्तुति करने वाले के लिये तुम पथ का अनुसन्धान करो।<sup>1</sup>

यहाँ ज्ञान की प्रतीक गाय की सहायता से बताया गया है कि व्यक्ति के जीवन में प्रायः ज्ञान का अभाव रहता है। ज्ञान के अभाव में पाप की संभावना अधिक होती है। यही कारण है कि संसार में पापियों की संभावना भी अधिक है। ऋषि इस विषम परिस्थिति से सुरक्षित रहने के लिए भन्त्रों के स्वामी बृहस्पति से प्रार्थना करता है।

मनुष्य यदि देव प्रदत्त मार्ग पर नहीं चलता तथा उसका जीवन यदि अज्ञान की कादम्बिनी से अगुण्ठित रहता है तो वह पाप एवं अैत्तिकता को प्राप्त होता है।

वैदिक मनीषा स्वीकार करती है कि जीवन में आर्थिक सुदृढ़ता का महत्त्व है परन्तु नैतिक सम्पन्नता के सम्मक्ष वह गौण है। वह यह भी स्वीकार करती है कि मनुष्य अपनी वक्र गति के कारण पापपूर्ण कृत्य करता है। अतः पाप से सुरक्षित रहने के लिये यह आवश्यक है कि वह अपनी समस्त वक्रता से मुक्त हो। यह मुक्ति तभी सम्भव है जब वह ज्ञान से युक्त हो।<sup>2</sup> वैदिक देवता इसके आदर्श उदाहरण हैं। ऋषि उन जैसा ही होना चाहता है। देवता बुद्धिमान् होते हैं, फलतः निष्पाप होते हैं। अतः ऋषि भी ज्ञान द्वारा अपने

1. अ०यूति क्षेत्रमार्गन्म देवा उ०र्वी स०ती भूमिर०हरणाभूत।

बृहस्पते प्र चिकित्सा गविष्ठावित्था स०ते ज०रित्र इन्द्र पन्थाम् ॥

ऋ० 6, 47, 20

2. अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्वि०श्नानि देव व०युना०नि वि०द्वान्।

यु०यो०ध्य । स्मज्जु०हुरा०णमेनो भूयि०ष्ठा ते नम०उ०क्तिं वि०धेम ॥

ऋ० 1, 189, 1

पापों को समाप्त करना चाहता है । इस कार्य के लिये उसे यदि दैवी सहाय्य की भी आवश्यकता पड़ती है तो वह माँगने में संकोच नहीं करता ।

संसार में मनुष्य केवल रोग से स्वयं को सुरक्षित रखकर सुखी रहना चाहता है । परन्तु ऋग्वेद ने रोग के अतिरिक्त पाप के समानान्तर दुर्मति को भी दुःखदायी कहा है ।<sup>1</sup> रोग से केवल शरीर नष्ट हो सकता है परन्तु दुर्मति से अनेक प्रकार के पापों का जन्म होता है जिनसे आन्तरिक शक्ति का ह्रास हो जाता है । यदि मनुष्य आन्तरिक रूप से क्षीण तथा अज्ञान हो तो समस्त बाह्य सुख एवं ऐश्वर्य व्यर्थ है ।

वैदिक नीति यह कहती है कि पापी कभी नैतिक नहीं हो सकता, क्योंकि नीति का आधार निष्पापत्व है । पाप के जन्म के प्रमुख कारणों में से एक अज्ञान भी है ।<sup>2</sup> जीवन की उन्नति में अज्ञान बाधा स्वरूप है । अतः वैदिक ऋषि आन्तरिक नुःगता का स्पर्श करने के लिये समस्त बाधाओं को पृथक् करना है ।

उपर्युक्त समस्त मन्त्रों में उस अज्ञान का उल्लेख किया गया है जिसे व्यक्ति चेतन रूप में ज्ञान समझकर स्वीकार करता है अर्थात् अकरणिय को भ्रान्तिवश करणीय समझ कर कार्य करता है । परन्तु अज्ञान की जड़े चेतन मन तक ही सीमित नहीं होती । वे अवचेतन में भी प्रविष्ट होती हैं । यदि कोई व्यक्ति स्वप्न में भी अनैतिकता अथवा किसी पाप से समासक्त होता है तो स्पष्ट है कि उसके अवचेतन में वे तत्त्व विद्यमान हैं क्योंकि व्यक्ति की दमित इच्छाओं

1. अपामीवामपु न्निधमपु सेधन दुर्मत्तिम् । आदिद्व्यासो युयोक्ता नो अहंसः ॥

ऋ0 8,18,10

2. अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्याशु विसुखात्मव्यातिरविद्या ॥

योग सूत्र, 2/5

द्वारा ही अवचेत्न का निर्माण होता है। अतः दुःस्वप्न अनेच्छिता के द्योत्क है। ऋग्वेद इस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त से सहस्रों वर्ष पूर्व परिचित था। उसने अवचेत्न से उद्भूत दुःस्वप्नों में पाप के अंकुर देख लिये थे। अतः वह अवचेत्न की भी शुद्धि का उपदेश देता है। उषा आध्यात्मिक ज्ञान की उन्मेष है। इसका उदय अज्ञान के अस्त का हेतु है। यही कारण है कि ऋषि उषा से दुःस्वप्नों को दूर करने की प्रार्थना करता है।<sup>1</sup> आध्यात्मिक ज्ञान समस्त पापों एवं कुरूपताओं से मुक्त होता है, फलतः उसमें अवचेत्न को शुद्ध करने का सामर्थ्य होना स्वाभाविक है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सज्जन हो अथवा दुर्जन, सभी के द्वारा दो प्रकार का पाप बनता है - एक तो वह पाप है जिसे सदा किसी उद्देश्य को मन में लेकर चेतन भाव से किया जाता है तथा दूसरा वह है जो अस्मात् बिना जाने ही अर्थात् अवचेत्न रह कर किया जाता है।<sup>2</sup> ये दोनों ही पाप अज्ञान के कारण होते हैं। इनसे मुक्ति नैतिक जीवन के लिए नितान्त आवश्यक है।

1. तदन्नाय तदपसे तं भागमुपसे दुषे।

त्रिताय च द्विताय चोषो दुष्ण्वन्त्यं वहानेहसो व ऊत्यः सुऊत्यो व ऊत्यः॥

श्रु 8,47,16

2. द्विधा तु क्रियते पापं सद्भिश्चासद्भिरेव च।

अभिसंधाय वा नित्यमन्यथा वा यदृच्छया ॥

महाभारत सूक्ति संध्या, 145/5971

### 3.1.5. दुर्बलताएँ

श्री अरविन्द ने दो प्रकार के मनुष्यों की कल्पना की है - आसुरीय तथा देवीय । आसुरीय मनुष्यों के विषय में उनका कथन है कि उनमें न तो सत्य होता है न शुद्ध कर्म । उनका जगत् एक ऐसा जगत् है जिसका मूल है 'कामना' तथा 'अहंकार' । वे सदैव इन्हीं की उपासना करने रहते हैं । दम्भ तथा मान से परिपूर्ण, अभिमान के मद में वृत्त ये पथ-भ्रष्ट जीव अज्ञान से विमूढ़ हो जाते हैं । ये अपनी लालसाओं के अपवित्र संकल्प का दृढ़तापूर्वक अनुसरण करते हैं ।<sup>1</sup> गीता में पाण्डु, अहंकार, अत्यधिक अभिमान, क्रोध, कठोरता तथा अज्ञान को इनकी विशेषताओं के रूप में वर्णित किया गया है ।<sup>2</sup>

यह सत्य है कि अहंकारी व्यक्ति में नैतिक धर्मवृत्ति नहीं रहती तथा न उसका कोई आध्यात्मिक लक्ष्य ही होता है । परन्तु यह खेद का विषय है कि मनुष्य के भीतर शुभ के संग अशुभ, सत्य के संग मिथ्या तथा देव के संग राक्षस भी विद्यमान हैं । किन्तु मनुष्य एक स्वतंत्र प्राणी है । अतः वह अपने भीतर विद्यमान विपरीत तत्त्वों में किसी एक का चयन करने में पूर्णतः स्वतंत्र एवं स्मर्य है । यदि वह देवत्व के प्रति आसक्त होगा तो उसका आचरण नीति सम्मत होगा । परन्तु यदि वह राक्षसत्व के प्रति आकृष्ट होगा तो वह दुराचारी होगा ।

1. श्री अरविन्द, गीता प्रबन्ध, पृ० 494

2. दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।

अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥

गीता, 16/4

ऋग्वेद में अहंकार को पाप के जन्मदाता रूप में प्रस्तुत करने हुए कहा गया है कि "हे सविता देव ! अज्ञानवश दिव्यजन के प्रति जो हमने ऽपापऽ किया हो, दीनता, दक्षता, अधिक्य अथवा पौरुषेय के कारण देवताओं तथा मनुष्यों के प्रति जो कुछ हमने किया हो तुम हमें निष्पाप होने के लिये प्रेरित करो ।"<sup>1</sup>

व्यक्ति किन परिस्थितियों में पाप करता है यहाँ यह बताया जा रहा है । व्यक्ति अज्ञान, दीनता, दक्षता, धनादि की अधिकता, ऐश्वर्य तथा शक्ति आदि के कारण पाप करता है । पाप के ये समस्त मूलभूत तत्त्व अहंकार के ही विभिन्न रूप हैं । अहंकार में क्रियाशीलता अधिक होती है, क्योंकि यह रजः प्रधान होता है । अनात्मवस्तु को स्वात्मीकृत करने की शक्ति इसमें होती है ।<sup>2</sup>

कुरआन ने भी अहंकार की निन्दा की है । वहाँ कहा गया है कि अहंकारी सदैव दूसरों को पीड़ित करता रहता है । ऐसा व्यक्ति धर्मतत्त्व को उपलब्ध नहीं होता । यदि वह धार्मिक कृत्य करना भी है तो उसका अहंकार उसके लिए पाप ही अर्जित करता है, पुण्य नहीं ।<sup>3</sup> अहंकारी व्यक्ति के लिए

1. अचि॑त्स्ती यच्च॑कृ॒मा दे॒व्ये जने॑दी॒नेर्दक्षेः॑ प्र॒भूती॑ पू॒रुष॑त्वता ।

दे॒वेषु॑ च सवि॒त्तर्मानु॑षेषु च त्वा॑ नो अ॒न्तं सु॒वता॑दना॒गसः॑ ॥

ऋ० 4, 54, 3

2. अभिमानोऽहङ्कारः, यद् उल्वालोच्चितं मतं च तत्र 'अहमधिकृतः', 'शक्तः उल्वहमत्र', 'मदर्थान्वामी विषयाः', 'मत्तो नान्योऽत्राधिकृतः कश्चिदस्ति', 'अतोऽहमस्मि' इति योऽभिमानः सो साधारणव्यापारत्वादहङ्कारः ॥  
वाचस्पति की सांख्यकारिका 24 परटिप्पणी ।

3. कुरआन, सौद, 71-85

दुःखद यान्नाएँ है ।<sup>1</sup> कुरआन मनुष्यों को अहंकार से मुक्त होकर समभाव से कार्य करने का निर्देश देता है ।<sup>2</sup>

वैदिक ऋषि मानवीय दुर्बलताओं को ध्यान में रखते हुये कहता है कि - "मनुष्यों का मन अपरिपक्व होता है, अपने सामर्थ्य की दुर्बलता के कारण यज्ञ के विषय में वह विचार नहीं कर पाता । अग्नि होता, ज्ञानी तथा याज्ञिक होने के कारण देवताओं का किस समय यज्ञ करना चाहिये यह जानते हुए स्वयं यज्ञ करें ।"<sup>3</sup>

प्रस्तुत ऋचा में ऋषि बिना किसी गतिरोध के यह स्वीकार करता है कि मनुष्य में कल्पित दुर्बलताएँ भी निहित होती हैं । इन्हीं दुर्बलताओं के कारण वह धार्मिक तथा नैतिक कार्य करने में असमर्थ होता है । परन्तु वह इस असमर्थता से मुक्ति का उपाय भी बताता है वह है अहंकार - विसर्जन । असत्य को असत्य की भाँति जान लेना सत्य का आरम्भ है । मन का यह नैसर्गिक गुण है कि वह जिसे भी स्वीकार कर लेता है उसे वह आक्रान्त कर लेता है । दुःख अस्वीकार में है , स्वीकार में नहीं । अतः अपनी दुर्बलता को स्वीकार कर लेना ही उससे मुक्ति एवं अहंकार का विसर्जन है । इसी दृष्टिकोण के आधार पर ऋषि अग्नि से यज्ञ करने को कह रहा है ।

1. वही , अल-निजा , 173

2. वही , अल-हदीद , 23

3. यत्पा॑कृ॒त्रा मन॑सा दी॒नद॑क्षा न य॒ज्ञस्य॑ मन्व॒ते मर्त्या॑सः ।

अ॒ग्नि॒ष्टद्धो॑ता कृ॒तुवि॑द्वि॒जान॑न्यजि॒ष्ठो दे॒वा ऋ॑तु॒षो य॑जाति ॥

यदि कोई मनुष्य मिथ्या गर्व, हठ, अभिमान तथा अहंकार की भावना से ओत-प्रोत होकर यज्ञ करता है तो उसका यज्ञ निष्फल हो जाता है ।<sup>1</sup>

पाश्चात्य नीति शास्त्रियों ने "त्रुटि करना मनुष्य का स्वाभाविक गुण" माना है ।<sup>2</sup> वैदिक युग में भी इस मान्यता को अनुमोदन प्रदान करते हुए कहा गया है कि - "हे पितरो ! मनुष्य होने के कारण कुछ भी हमने पाप किया हो तो हमारा वध मत करना । घुटने टेक कर दक्षिण की ओर बैठ कर तू हमारे इस यज्ञ की प्रशंसा करो ।"<sup>3</sup>

पाप करना उत्तम बुरा नहीं है जितनी कि उसकी पुनरावृत्ति । ऋषि को ज्ञान है कि मनुष्य होने के कारण अनेक दुर्बलताएँ भी उसके साथ होती हैं । अतः पाप करना सहज है ।<sup>4</sup> परन्तु वह पापों ने प्रति सजग है तथा उनसे मुक्ति का प्रयास करना है ।

मनुष्य होने के कारण व्यक्ति अपराध करता है । वह ऐसा करने के लिये विवश है । उसके ज्ञान की एक इयत्ता है जिसका वह अतिक्रमण प्रायः नहीं कर पाता । इस प्रकार की परत्वेता एवं संकीर्णता में पाप की अधिक संभावना होती है । इस सीमता से निक्ल कर असीमता की ओर

1. आत्मसंभावनाः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।

यजन्ते नामयज्ञेस्ते दम्भेनविधिपूर्वकम् ॥ गीता, 16/17

2. To err is human

3. आच्या जानु दक्षिण्यो निषद्येयं यज्ञमभि गृणीत विश्वे ।

मा हिंसिष्ट पितरः केने विन्तो यद् आगेः पुरुषन्त करोम ॥ ऋ0 10, 15, 6

4. मा नः शंतो अरुषो धूर्तिः प्रण्डमर्त्यस्य । रक्षो णो ब्रह्मणस्पते ॥

ऋ0 1, 18, 3



प्रयाण करने के हेतु ही ऋषि देवताओं की सुमति का इच्छुक है ।<sup>1</sup>

सामान्य जीवन में व्यक्ति नैतिक नियमों का उल्लंघन करता रहता है । ऐसा निरन्तर करते रहने से मानो वही उसका शील हो जाता है ऋषि स्वयं को उक्त सामान्य जनों से पृथक् करके नहीं देखता प्रत्युत वह स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है कि उससे भी अनेककार्य हो सकते हैं । इस स्वीकरण ने द्वारा उसके अहंकार का विसर्जन होता है तथा अहंकार से मुक्त होकर वह निष्पापत्व को प्राप्त करता है ।<sup>2</sup>

### 3.2. नीति शास्त्रियों का मत

ऋग्वेद में वर्णित प्रायः समस्त कारणों को ही नीति-शास्त्रियों ने नूतन रूप में प्रस्तुत किया है । इनके अनुसार मनुष्य जब भी अपनी इच्छा से कोई कर्म करता है तो उसके पीछे कोई न कोई आवश्यकता निहित होती है, वह किसी न किसी भाव का अनुभव करता है तथा उसी की पूर्ति की 'इच्छा' से कर्म करता है । यदि कोई द्विविधा होती है तो उस पर चिन्तन-मनन कर इच्छित पदार्थ को प्राप्त करने के साधन का विचार करता है तथा अन्त में विचारित साधन से ही उस पदार्थ को प्राप्त करने का 'संकल्प' करता है । उदाहरणार्थ किसी विद्यार्थी का कक्षा में तृषा का अनुभव करने पर ऊहा-पोह के पश्चात् गुरु की आज्ञा लेकर पानी पीने जाना । इस घटना में तृषा का अनुभव होने पर ही पानी पीने का विचार आता है । कक्षा से जायें

1. अध्वक्ता वो मरुतो दिद्युदस्तु यद्वा आगेः पुरुषन्ता कराम ।

मा वस्तस्यामपि भूमा यजत्रा अस्मे वो अस्तु सुमतिनिष्ठा ॥

ऋ0 7, 57, 4

2. यच्चिदि ने विशो यथा प्रदेवकृण त्रन्म् ।

मिनीनसि यच्चिदिवि ॥ ऋ0 1, 25, 1

अथवा नहीं' इस प्रकार की द्विविधा होती है तथा अन्न में र्त्क-वित्क कर आज्ञा लेकर पानी पीने का संकल्प उत्पन्न होता है । इन्हें 'मानसिक क्रिया' कहते हैं । इसके पश्चात् अपने 'अभिप्राय' की पूर्ति के लिए 'शारीरिक चेष्टा' का आरम्भ होता है जिसके अन्तर्गत विद्यार्थी निश्चय करके , आज्ञोपरान्त उठकर पानी पीने जाता है । अन्न में चेष्टाओं की समाप्ति पर उस कर्म का फल प्राप्त होता है ।<sup>1</sup>

इस प्रकार के कर्म को 'ऐच्छिक कर्म' कहते हैं अर्थात् जो कर्म चेत्न रूप से इच्छा तथा चुनाव करके किया जाता है 'ऐच्छिक कर्म' कहलाता है । इन्हीं कर्मों के संग ही अच्छा-बुरा, नैतिक-अनैतिक का प्रश्न उत्पन्न होता है ।<sup>2</sup>

ऐच्छिक कर्म में तीन स्थितियाँ होती हैं -

- 1- मानसिक स्थिति § Mental stage §
- 2- शारीरिक स्थिति § Bodily or organic stage §
- 3- बाह्य स्थिति § External or extra organic stage §

स्पिनोज़ा<sup>3</sup> के अनुसार प्रत्येक मनुष्य प्रकृति की व्यापक व्यवस्था का एक परिमित अंग है । अत्यन्त महान् आन्तरिक जटिलता का

1. श्रीलोक कुमार वर्मा, प्रारम्भिक आचार शास्त्र, पृ० 31-32

2. वही, पृ० 28-29

3. सी०डी० ब्रांड, नीति शास्त्रीय सिद्धान्त के पाँच प्रकार, पृ० 15

वह समुदाय है जो विशेष प्रकार का ऐक्य एवं संतुलन रखता है। अन्य मनुष्य तथा शेष प्रकृति के साथ उसकी सतत अन्तः क्रियाएँ चलती रहती हैं। ये अन्तः क्रियाएँ उसके संतुलन को किसी न किसी ओर प्रवृत्त करने की सदा उद्यत रहती हैं। जब तक वह संतुलन प्रायः सुरक्षित रहता है तब तक उसका शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य भी अक्षुण्ण बना रहता है। परन्तु जब वह संतुलन अल्प मात्रा में भी अव्यवस्थित होता है, मनुष्य दुराचारी, रोगी अथवा विकसिप्त हो जाता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आन्तरिक संतुलन का बिगड़ना ही दुराचार का मूल है। अतः नैतिक मनुष्य वही है जो अपने आत्मों तथा विध्वंसकारी विचारों को इतना अधिक संतुलित तथा संस्कृत बना ले कि वे मनुष्यों के व्यापक हित की वृद्धि में सहायक हों। शुभ की आनन्दमयी अवस्था स्वार्थ एवं परार्थ का उचित मात्रा में संतुलन है।

स्पिनोज़ा<sup>1</sup> ने 'निष्क्रियता' तथा 'सक्रियता' को क्रमशः अनेकिकता एवं नैतिकता का कारण बताया है। उसके अनुसार मनुष्य के भीतर घटित किसी ऐसे परिवर्तन के कारण उसे 'निष्क्रिय' कहा जा सकता है जिसका एक ओर बाहर हो। इसी प्रकार जब आन्तरिक परिवर्तन का संपूर्ण कारण भीतर ही विद्यमान होता है तब उसे 'सक्रिय' कहा जा सकता है।

कारण भय, वश में करने वाले प्रेम, घृणा तथा ईर्ष्या आदि निष्क्रिय सैव्य की अधिकता के ज्वलन्त उदाहरण हैं। जब तक व्यक्ति इस

स्तर पर रहता है, वह ऐच्छिकता के अधिक निकट रहता है। यह बंधन की स्थिति है। इसमें उसका आवरण अमर्यादित तथा दुर्धर्ष हो जाता है।

मानव-स्वभाव का विश्लेषण करते हुए ग्रेफ्टस्बरी<sup>1</sup> कहते हैं कि मनुष्य में तीन प्रकार की प्रवृत्तियाँ होती हैं -

- 1- स्वाभाविक भावनाएँ- प्रेम, दया, सहानुभूति आदि।
- 2- जैविक भावनाएँ - जीवन का मोह, क्षुधा, पिपासा आदि।
- 3- अस्वाभाविक भावनाएँ- अस्व-य क्लेश, घृणा, बैर, निर्दयता आदि।

मनुष्य उपर्युक्त तीनों भावनाओं का सम्मिश्रण है। जब कभी ये असंतुलित होती हैं अर्थात् जब अस्वाभाविक भावनाएँ अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेती हैं तो व्यक्ति ऐच्छिक आवरण करने लगता है। इसी कारण काण्ट ने कहा है कि जिम्मा अधिक इच्छाओं एवं स्वार्थों पर मनुष्य विजय प्राप्त करता है, उन्मा ही वह सद्गुण अर्जित करता है। सद्गुण ज्ञान्मा के नैतिक प्रयास का सूचक है। चरित्र का जिम्मा अधिक नैतिक विकास होता है, उन्मा ही सद्गुणों की मात्रा में वृद्धि होती है।<sup>2</sup>

बोल्ट्ज<sup>3</sup> का मत है कि नैतिक बुराई सत्य-स्थिति की व्यावहारिक अस्वीकृति है तथा नैतिक अच्छाई इसकी स्वीकृति। उसका तर्क है कि स्नेह केवल इसी कारण निन्दनीय है क्योंकि बुराई गई वस्तु अन्य की

1. मिश्र तथा अवस्थी, नीति शास्त्र की भूमिका, पृ० 192

2. डा० दिवाकर पाठक, भारतीय नीति शास्त्र, पृ० 99

3. मिश्र तथा अवस्थी, नीति शास्त्र की भूमिका, पृ० 90

सम्पत्ति है तथा स्नेह इस सत्य की अस्वीकृति है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बुरा कर्म तथ्य से अंगति नहीं रखता प्रत्युत उस आदर्श से अंगति रखता है जो मनुष्य तथा मनुष्य के मध्य सम्बन्ध में निहित होता है ।

टी०एच० ग्रीन<sup>1</sup> का मत है कि मनुष्य के भीतर दो प्रकार के तत्त्व निहित होते हैं - पाशविक तथा आत्मिक । आत्म-विवेक द्वारा ही मनुष्य नैतिक कर्मों से अभिज्ञ होता है एवं उसमें चरित्रयुक्त बल उत्पन्न होता है । यह बल मनुष्य का एक अभ्यास है जिससे वह अपने को उन विषयों की ओर ले जाता है जिनमें वह आत्मतृप्ति प्राप्त करने का प्रयास करता है तथा अन्य आगन्तुक कामनाओं के सम्मोहन से प्रभावित होकर विचलित नहीं होता है ।

परन्तु जब वह पाशविक वृत्तियों के अधीन होकर कार्य करता है तो उसे आत्म तृप्ति के स्थान पर आत्मघात का अनुभव करना पड़ता है । यदि मनुष्य की आत्मा अपने को उन विधियों से तृप्त करती है अथवा अपने सामर्थ्य को उपलब्ध करती है जो उसकी देवी उत्पत्ति के नियमानुसार तथा ब्रह्माण्ड के तथा मानव-समाज के नियमानुसार आत्म-तृप्ति अथवा आत्मो-लब्धि देने वाली नहीं है तो वह दोषपूर्ण आत्मानुसंधान तथा आत्म सिद्धि का स्रोत है । उदाहरणार्थ कामुक व्यक्ति के जीवन में आत्मतृप्ति की गवेषणा ऐसा उदाहरण है - यह गवेषणा वस्तुतः आत्मघाती है । कामुक मनुष्य आत्म-तृप्ति खोजता है तथा इस प्रकार केवल सुख के लिए जीवित रहता है, जबकि उसकी उत्पत्ति देवी है अथवा उसमें स्वभाव में वह तत्त्व विद्यमान है जो उसके अस्तित्व के नियमानुसार उसमें आन्तरिक सामर्थ्य के अनुसार उसकी आत्म तृप्ति को सुखों की राशि में अभिव्यक्त कर देता है ।<sup>2</sup>

1. टी०एच० ग्रीन, नीति दर्शन की पूर्व-पीठिका, पृ० 82-94

2. वही, पृ० 162-63

जे० कृष्णमूर्ति<sup>1</sup> के अनुसार अधिकांश व्यक्ति कर्मों की श्रृंखला के मध्य जीवित रहते हैं। बिना कर्म के न तो कोई जीवन है, न कोई अनुभव तथा न ही कोई विचारणा। मानवीय-जीवन वेत्ता के विभिन्न स्तरों पर कर्मों की एक श्रृंखला अथवा कर्म की एक प्रक्रिया है। कर्म कर्त्ता का सर्जन करता है। किसी परिणाम के लिए कर्म करना ही संकल्प है। जब यह संकल्प असम्बद्ध एवं असंगत होता है तो कर्म भी विघटन तथा कुण्ठा उत्पन्न करने वाले हो जाते हैं। व्यक्ति की सर्जनशीलता के कुण्ठित हो जाने से ही उसका व्यक्तित्व जीर्ण-शीर्ण हो जाता है जिसका दुष्परिणाम होता है समाज में अैत्तिकता का प्रसार। वस्तुतः बाह्य जगत् अन्तर का प्रक्षेपण मात्र है। अतः अपने अन्तः में यदि कोई अस्त-व्यस्त तथा द्वन्द्वात्मक स्थिति में है तो उसका आचरण भी अव्यवस्था को उत्पन्न करने वाला हो जायगा, क्योंकि सर्जनात्मक व्यक्तित्व उसी समय अभिव्यक्त होता है जब मनुष्य में आत्म-बोध की भावना उत्पन्न होती है। यह आत्म-बोध ही 'शुभ संकल्प' है जो समस्त अैत्तिकता से उसे पृथक् रखता है। इस प्रकार स्वयं को न जानना ही 'अशुभ संकल्प' का जन्म दाना है। यह 'अशुभ संकल्प' ही अैत्तिकता का मूल है, जिसके वशीभूत होकर मनुष्य दुराचारी हो जाता है।

इस प्रकार यह सहज रूपेण कहा जा सकता है कि आधुनिक नीति-शास्त्रियों ने ऋग्वेद में वर्णित 'इच्छा-शक्ति' की दुर्बलता, अज्ञान, तथा मानवीय स्वभाव आदि को ही अैत्तिकता के मूल कारण के रूप में स्वीकार किया है।

### 3.3 मनोवैज्ञानिकों का मत

मनोविश्लेषकों<sup>1</sup> के अनुसार सामान्य व्यस्क व्यक्तित्व का निर्माण 'कामतत्त्व' § 4a §, 'अहंकार' § Ego § तथा उच्चाहंकार § Super-Ego § से मिलकर होता है। 'कामतत्त्व' जीवन तथा मृत्यु दोनों ही प्रवृत्तियों का प्रमुख संग्रह-स्थल तथा अनेक मनोजैविक शक्तियों का स्रोत है। यह विशुद्ध रूप में आनन्द प्राप्त एवं आक्रामक इच्छाओं से ही सम्बन्धित होता है। इसे न तो समय का ज्ञान होता है तथा न वास्तविकता का। यदि 'कामतत्त्व' से आरम्भ होने वाली इच्छाओं की प्राप्ति का वास्तविकता तथा समाज द्वारा नियंत्रण न किया जाय तो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्यक्तित्व में प्रौढ़ता नहीं आ सकती। ऐसी दशा में उसे न नैतिक - अनैतिक का विचार रहेगा तथा न सामाजिक महत्त्वों का।

उच्चाहंकार व्यक्ति का समाजीकरण करने वाली प्रमुख शक्ति है। संस्कृति, नैतिकता तथा आदर्शों द्वारा परिवर्तित एवं संवर्धित वंशानुगत नैतिक प्रवृत्ति द्वारा इसका निर्माण होता है। यह मुख्य रूप से अवेत्त होता है तथा आंशिक रूप से वेत्त। प्रक्रियात्मक दृष्टि से कामतत्त्व की शक्तियाँ प्रेम एवं आक्रामक प्रवृत्तियों की संतुष्टि के लिए प्रयत्नशील रहती हैं, उच्चाहंकार की शक्तियों में वर्धन तथा क्षय होने के साथ-साथ विकसित सामाजिक उत्तर - दायित्व की ध्वनि होती है, तथा अहंकार इन दोनों के मध्य सामंजस्य तथा अभियोजन लाने के लिए प्रयत्नशील रहता है।

---

1. डा० रामकुमार राय, सामान्य मनोविज्ञान, पृ० 207

मनोविश्लेषकों। का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति विनाशात्मक मृत्यु - भावना तथा रचनात्मक जीवन-भावना को अपनी जैविक वंश-परम्परा द्वारा प्राप्त करता है। इनके विचार से जीवित रहने तथा प्रेम करने तथा मर जाने एवं विनाश करने की परस्पर विरोधी भावनाएँ सभी व्यक्तियों में जन्म से ही विद्यमान रहती हैं। अधिकांश व्यक्तियों में जीवन एवं मृत्यु की प्रवृत्तियों में अनुकूल संतुलन बना रहता है, जिसके कारण निर्दयता पर दयालुता विनाशात्मकता पर रचनात्मकता तथा घृणा पर प्रेम की भावनाओं की विजय होती रहती है। परन्तु इस संतुलन में बिगड़ जाने पर मनुष्य में मृत्यु-भावना जन्य आक्रामक प्रवृत्ति प्रकट हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति सामाजिक अथवा नैतिक नियमों के प्रतिकूल आवरण करने को उद्यत हो जाता है।

फ्रायड ने मनुष्य में चेतन चेतन तथा अचेतन मन को स्वीकार किया था। परन्तु यूंग ने सामूहिक अचेतन का भी इसमें समावेश किया है। यूंग ने फ्रायड के दमित वासनाओं से निर्मित अचेतन के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए व्यक्ति में सामूहिक अचेतन के सिद्धान्त को भी परिपुष्ट किया। उनके अनुसार मनुष्यों की जो जाति परम्परा रही है उनके वैयक्तिक अचेतन बाद की संतानों पर अपना प्रभाव छोड़ने लगे। इस प्रकार सबका वैयक्तिक अचेतन मिलकर सामूहिक अचेतन बना। यह समष्टिगत घटना है। इसमें मानवीय विकास क्रम की समस्त घटनाएँ निहित होती हैं। क्योंकि मनुष्य विभिन्न परिस्थितियों में सम्मिलित हो चुका है, अतः अपने साथ वह उन परिस्थितियों का संस्मरण भी एक वंश से दूसरे वंश तक अनुसंक्रमित करता रहता है। सामूहिक अचेतन व्यक्ति विशेष के जीवन-काल में निर्मित नहीं



होता प्रत्युत ऐतिहासिक एवं प्रागैतिहासिक काल से सम्बन्धित होता है जबकि मनुष्य पशु या । यह प्रत्येक देश एवं काल की मिथकीय घटनाओं का कोष होता है ।

यूंग<sup>1</sup> ने सामूहिक अवचेतन की अन्तर्वस्तु के रूप में दो प्रकार की वस्तुओं को स्वीकार किया है - सहज वृत्तियाँ § *Instincts* § तथा आद्यबिम्ब § *Arche types* § । सहज वृत्तियाँ रक्षा-पालन की इच्छा, वृद्धि तथा जीवन की उन्नति को उत्थापित करती हैं । ये जीवन की मौलिक ऊर्जा को आकार देती हैं । जहाँ सहज वृत्तियाँ आध्यात्मिक ऊर्जा की धारा होती हैं वहाँ आद्यबिम्ब स्थायी पथ होते हैं जिन पर वह धारा बहती है। यदि सहज वृत्ति का मूल अवचेतन है तो आद्यबिम्ब भी अवचेतन होगा । यदि प्रथम चेतन मन में रक्षा-पालन, वृद्धि तथा जीवन की उन्नति की प्रवृत्ति बन कर आती है तो अन्तिम 'सार्कभौम विचारों' के रूप में कार्य करते हैं । इस प्रकार सामूहिक अवचेतन केवल जीवन की प्रेरक शक्ति का ही नहीं अपितु संसार के सम्स्त रचनात्मक विचारों का स्रोत है ।

यूंग ने सहज वृत्तियों को 'इच्छा' § *will* § के समतुल्य माना है ।<sup>2</sup> ये सहज वृत्तियाँ, प्रेरक शक्ति' के रूप में कार्य करती हैं तथा आद्यबिम्ब इन्हें दिशा एवं महत्त्व' प्रदान करते हैं । जो आद्यबिम्बों के प्रभाव में आकर कार्य करता है वह सहज वृत्तियों पर अधिकार प्राप्त कर लेता है । दो व्यक्तियों के व्यवहार में अन्तर का कारण होता है एक का प्रायः सहज वृत्तियों द्वारा प्रेरित होना तथा दूसरे का आद्यबिम्बों द्वारा ।

1. प्रो० एस्० पी० सिंह, अरविन्द एण्ड यूंग, पृ० 26

2. वही, पृ० 29

यूंग के अनुसार क्योंकि मनुष्य पाशविक जीवन भी व्यतीत कर चुका है अतः सामूहिक अवचेतन में पशु तत्त्व भी विद्यमान होना चाहिये । इस प्रकार के पशु स्तरीय बिम्ब को उसने 'छाया' § Shadow § कहा है। इसे केवल चेतन मन की छाया के रूप में भी ग्रहण किया जा सकता है । उसने छेदपूर्वक स्वीकार किया है कि मनुष्य में छाया-व्यक्तित्व भी होता है जो कि मात्र कल्पित क्षुद्र दुर्बलताओं एवं दोषों से निर्मित नहीं होता अपितु एक प्रचण्ड राक्षसी शक्ति भी रखता है ।<sup>1</sup>

इस 'छाया' के आद्यबिम्ब में उसने 'एनीमा' § Anima § तथा 'एनीमस' § Animus § का वास माना है ।<sup>2</sup> एनीमा नारीतत्त्व को प्रकट करता है तथा एनीमस पुरुष तत्त्व को । इस प्रकार प्रत्येक पुरुष अपने भीतर स्त्री का एकशाश्वत बिम्ब रखता है तथा प्रत्येक नारी पुरुष का । ये दोनों तत्त्व विध्वंसकारी के साथ ही निर्माणकारी भी होते हैं । जब इन्हें दमित अथवा अवहेलित किया जाता है तो ये चेतना में विप्लव मचाने हैं । ये मनुष्य को पूर्णतः नष्ट भी कर सकते हैं । यह व्यक्ति का 'अंधकारमय' पक्ष है । इनमें पापों तथा दुर्यत्सनों की अधिक संभावना निहित होती है ।

यूंग के विचार में मनुष्य स्वयं को जितना अच्छा समझता है अथवा जितना वह होना चाहता है, यह दुर्भाग्य ही है कि उतना वह नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने साथ ही अपनी 'छाया' को भी लिये रहता है । यदि कोई दुष्टता सचेतन स्तर की है तो कोई भी व्यक्ति उसे

1. सी० जी० यूंग, साइकोलॉजिकल रिफ्लेक्शन्स, पृ० 214-15

2. प्रो० एस० पी० सिंह, अरविन्द एण्ड यूंग, पृ० 52

संशोधित कर सकता है। परन्तु यदि यहवेत्तता के द्वारा दमित एवं उपेक्षित है तो इसे कभी भी सुधारा नहीं जा सकता।<sup>1</sup> छाया व्यक्ति के कारण ही शारीरिक दृष्टि से बलिष्ठ दिखने वाला मनुष्य कहीं न कहीं दुर्बल भी होता है, चतुर व्यक्ति मूर्ख भी होता है।<sup>2</sup>

उपर्युक्त समस्त विचारकों के मतों का सिंहावलोकन करके कहा जा सकता है कि मनुष्य के भीतर 'राग' अथवा 'सहज वृत्तियाँ' तथा 'आद्य-बिम्ब' होते हैं जिनसे उत्प्रेरित होकर वह कार्य करता है। परन्तु उसमें 'छाया' तत्त्व भी होता है जो दमन एवं निषेध के कारण विद्रोही होता है। यद्यपि मनुष्य में नैतिक निसर्ग-वृत्ति विद्यमान होती है।<sup>3</sup> तथापि यह छाया तत्त्व उसका निषेध करके अनैतिक आवरण के लिए उसे बाध्य कर देता है।

इस प्रकार मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में अनैतिकता का मूल व्यक्ति का अवेत्तन है। वह चेतन रूप से भी पाप करता है परन्तु अधिकतर पाप वह कारणों से अनभिज्ञ होकर भी करता है। यह 'अनभिज्ञता' अवेत्तन की द्योत्क है। अतः परिष्कृत चेतन मन वाला व्यक्ति पूर्णतः नैतिक नहीं है प्रत्युत परिष्कृत अवेत्तन मन वाला ही पूर्ण रूपेण नैतिक रहलाने के योग्य है।<sup>4</sup>

1. सी०जी० यूंग, साइकोलॉजिकल रिफ्लेक्शन्स, पृ० 214

2. वही, पृ० 103

3. सिगमंड फ्रायड, फ्रायड मनोविश्लेषण, पृ० 304

4. वही, पृ० 305

उक्त मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर दृष्टिपात करके यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वेद की शिक्षाएँ मनोविज्ञान की उपेक्षा नहीं करती। आर्ष-ज्ञान मानवोत्तर स्तर का होते हुए भी मानवीय भावनाओं से ओत-प्रोत है। इनमें जीवन को उसकी समग्रता में देखने की प्रवृत्ति विद्यमान है। इनमें मनुष्य के क्षुद्रतम लक्ष्य को अर्जित करने की पद्धति से लेकर विशालतम लक्ष्य को प्राप्त करने का मार्ग निर्दिष्ट है।

जिस शिक्षा में मनुष्य के स्वभाव एवं प्रकृति का ध्यान नहीं रखा जाना वह सार्थक नहीं होती। शिक्षा अथवा ज्ञान का आदर्श रूप वह है जिसमें मनोविज्ञान को यथोचित स्थान दिया गया हो। ऋग्वेद में मनोविज्ञान को आधार बनाकर शिक्षा के प्रारूप को प्रस्तुत किया गया है। वह मानवाचरण के अनुकूल होने के कारण ही निर्बाध गति से अद्यापि प्रवाहित है।

### निष्कर्ष

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में कहा जा सकता है कि मनुष्य में कुछ अच्छाइयाँ भी हैं तो कुछ बुराइयाँ भी। यदि वह ऋत का अनुसरण करेगा तो उसके अन्दर की बुराइयाँ समाप्त तो नहीं होंगी परन्तु उसे ऐतित्कता से सम्पृक्त भी नहीं कर सकेंगी। परन्तु वह यदि निर्धृति को अपने जीवन का आधार बनायेगा तो उसके अन्तः में सुषुप्त बुराइयाँ उद्बुद्ध होकर उसे ऐतित्क आचरण के लिये बाध्य करेंगी। इस प्रकार के बद्ध मनुष्य की इच्छा-शक्ति क्षीण हो जाती है। वह सुरा, दून, अज्ञान तथा अहंकारादि के प्रभाव में शीघ्र ही आ जाता है। उसे अपनी दुर्बलताओं पर अल्प मात्र भी नियंत्रण नहीं रह जाता।

१० यच्चिद्धि ते विशो यथा प्र देव वरुण व्रतम् । मिनीमसि घविघवि ॥

ऋ० १, २५, १

नैतिकता के उपर्युक्त कारणों को "विश्व स्वास्थ्य संगठन" WHO ने भी अनुमोदन देने हुए विनाशक तत्त्व कहा है।<sup>1</sup> इस प्रकार आधुनिक विज्ञान भी वैदिक शिक्षाओं की उपेक्षा नहीं कर सका।

ऋग्वेद की भाँति काण्ट ने भी मनुष्य में काम तथा विवेक की स्थिति बतायी है। उसके अनुसार कामनाएँ मनुष्य को कर्त्तव्य पथ से विचलित करती है तथा उनका स्तब्ध विवेक से होता है। अतः कामनाओं के दमन से ही उसने नैतिक उत्थान को संभव बताया है।<sup>2</sup>

आत्मप्रसादवादियों के अनुसार आत्म-लाभ ही जीवन का आदर्श होना चाहिये। बुद्धिमय आत्मा के लाभ के लिये पाशविक आत्मा का त्याग अथवा अपनी उच्चतर प्रकृति के लिये हीन स्वभाव का आवर्जन आवश्यक है।<sup>3</sup>

ऋग्वेद की नीति का सार यही है कि सत् तथा असत् तत्त्व एक दूसरे में इस प्रकार गुम्फित होते हैं कि उन्हें विविक्त करना सरल नहीं है। परन्तु देवता इस कार्य को करके मनुष्यों के लिए एक आदर्श उपस्थित करते हैं। अतः जो व्यक्ति अपने जीवन से असत् को निकाल फेंकेगा उसका जीवन पूर्णतया शुद्ध सुवर्ण जैसा होगा।<sup>4</sup> उण्डित स्थिति में ही पाप की संभावना होती है। अतः ऋषि का विचार है कि एकीभूत होकर मूल के प्रति गमन ही पाप से मुक्ति का द्वार है। उस मूल उण्डित तत्त्व को उसने 'अदिति' कहकर सम्बोधित किया है।<sup>5</sup>

1. सोशल डाइमेंशन्स ऑफ़ मेंटल हेल्थ, जेनेवा, 1981

2. अशोक कुमार वर्मा, प्रारम्भिक आचार शास्त्र, पृ० 277

3. वही, पृ० 198

4. ऋ०, 1, 139, 2

5. अनागसो अदित्ये देवस्ये सवितुः सुवे । विश्वा वामानि धीमहि ॥

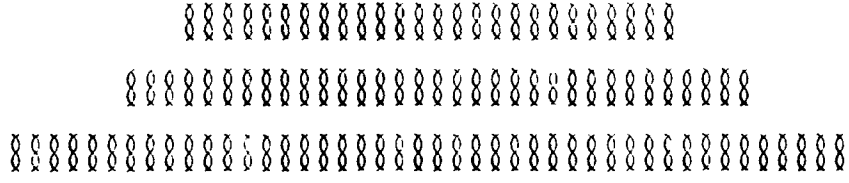
ऋ० 5, 32, 6

मनुष्य की प्रकृति ऐसी है कि उसमें कुछ दुर्बलताएँ भी विद्यमान हैं। उसे न तो अपने अवेग्न पर अधिकार है तथा न ही वह त्रिकालदर्शी है। अतः उसके जीवन में अनेकता उत्कृष्ट रूप में पदार्पण करती रहती है। इस प्रकार की प्रायिक अनेकता से सुरक्षित रहने के लिये देवी साहाय्य आवश्यक है तथा यह सहायता उसे ही उपलब्ध होती है जो ऋत का पालन करता है, निर्धनता का नहीं। ऋग्वेद की नैतिक भावनाएँ उत्तम कर्मों की ओर प्रेरित करती हैं तथा निकृष्ट कार्यों से परित्राण भी करती हैं। अतः ये नैतिक भावनाएँ एक प्रकार के नैतिक अनुमोदन हैं। परन्तु बार-बार निकृष्ट कार्यों को करने पर नैतिक भावना क्लिप्त हो जाती है जिसके कारण मनुष्य मनुष्यत्व के धरात्न से च्युत होकर पशुत्व के स्तर पर आ जाता है। पशु को मनुष्य तथा मनुष्य को देवता बनाना वैदिक नीति का लक्ष्य है।

=0=

१० न दक्षिणा वि वि॒कृते न सु॒व्या न प्रा॒चीनमादि॒त्या नोत प॒श्चा ।  
प्रा॒क्या वि॒द्वसवो धी॒र्या वि॒द्युष्मानी॑तो अ॒भ्यं ज्योति॑र॒ण्याम् ॥

ऋ० २, २७, ११

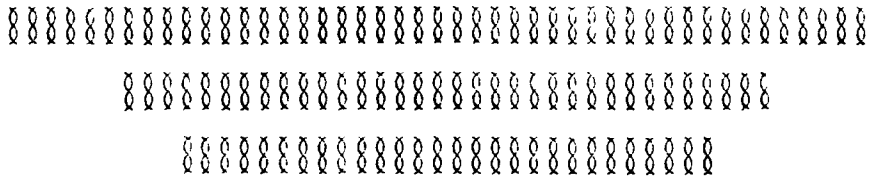


## चतुर्थ अध्याय

=====

### नीति और कर्म-सिद्धान्त

- 4.1. कर्म का स्वरूप
  - 4.1.1. कर्म-सिद्धि के कारण
- 4.2. कर्त्ता
  - 4.2.1. कर्त्ता की स्वतन्त्रता
  - 4.2.2. कर्त्ता की परतन्त्रता
- 4.3. कर्म के प्रकार
- 4.4. कर्म के प्रभाव
  - 4.4.1. कर्त्ता के व्यक्तिगत जीवन पर
    - 4.4.1.1. नैतिक कर्म
    - 4.4.1.2. अनैतिक कर्म
  - 4.4.2. अन्यकृत कर्मों का प्रभाव अन्य पर
- 4.5. महायज्ञ



## चतुर्थ अध्याय =====

### नीति और कर्म- सिद्धान्त =====

भारतीय नीतिशास्त्र का एक बहुत बड़ा आधार कर्म-सिद्धान्त है । कल्पियचिन्तकों ने संसार को रंगमंच से उपमित किया है । जिस प्रकार रंगमंच पर नाटक के पात्र आते हैं तथा पात्र-भेद के अनुसार नाट्य-प्रदर्शन करके क्ले जाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य इस संसार रूपी रंगमंच पर अपनी योग्यतानुसार कर्म करके प्रयाण कर जाता है । जिस प्रकार रंगमंच का पात्र अपनी नाट्य कला की कुशलता एवं अकुशलता के अनुरूप ही प्रशंसा अथवा निन्दा प्राप्त करता है, उसी प्रकार मनुष्य भी अपने कर्मों के अनुसार ही फल प्राप्त करता है ।

अतः नीति हो अथवा अनिति दोनों को अर्जित करने के लिये कर्म करना आवश्यक है । इस संसार में क्रिया शून्य कोई भी नहीं है तथा कर्म के बिना गति भी नहीं है । इस प्रकार नीति का साक्षात् सम्बन्ध कर्म से है । नीति का विशद विवेचन पूर्ववर्ती अध्यायों में किया जा चुका है । अतः यहाँ कर्म-सिद्धान्त पर प्रकाश डालना उपादेय होगा ।

1. क्षणं बालो भूत्वा क्षणमपि युवा कामरसिकः - क्षणं वित्तेर्हीनः क्षणमपि च -  
सम्पूर्णविभवः । जराजीर्णैर्ऋत इव बलीमण्डितस्तु-र्नरः संसारान्ते विक्षति-  
यमधानी यवनिकाम् ॥ भर्तृहरि, वैराग्यशतक, 50

2. All the world's a stage.

And all the men and women merely players.

Shakespeare, As you like it.



#### 4.1. कर्म का स्वरूप

कर्त्ता को अपनी क्रिया द्वारा जिसे प्राप्त करना अत्यन्त अभीष्ट हो वह कर्म कहलाता है ।<sup>1</sup> अर्थात् कर्त्ता को कर्म से बाँधने वाली क्रिया है । यदि क्रिया न हो तो कर्म तक पहुँचना असम्भव है । अतः क्रिया माध्यम है कर्म रूपी लक्ष्य को प्राप्त करने का । जिसमें भाव की प्रधानता हो वह क्रिया है ।<sup>2</sup> इस ब्रह्माण्ड में स्थिरता नहीं है । यहाँ केवल गतिशीलता एवं प्रवाह का प्राधान्य है । अतः इस गतिशील परिस्थिति में किसी का भी स्थिर अथवा क्रियाशून्य बने रहना कठिन है । जब क्रिया से कोई सुरक्षित नहीं रह सकता तो कर्म से भी मुक्ति असम्भव है । कर्त्ता है तो क्रिया भी स्वाभाविक रूप से होगी तथा क्रिया होगी तो कर्म भी होगा । इसी हेतु संसार को 'कर्मभूमि' कहा गया है । गीता के कर्मयोग का सार भी यही है कि कर्त्ता कर्म से पलायन कर ही नहीं सकता । चाणक्य भी उक्त मत के समर्थन में कहते हैं कि जिस प्रकार छाया एवं घूप परस्पर सम्बद्ध होते हैं, उसी प्रकार कर्म तथा कर्त्ता एक-दूसरे से बंधे रहते हैं ।<sup>3</sup>

#### 4.1.1. कर्म-सिद्धि के कारण

मानव-प्रकृति के समस्त उत्पादन अहंकार के सूत्र से निर्मित हैं । अतः समस्त विचारों एवं कर्मों के पीछे वह छाया की भाँति विद्यमान रहता है । इस अहंकार से कामना अथवा इच्छा का जन्म होता है । इच्छा के द्वारा ही कर्त्ता

1. कर्तुरीप्सितन्म कर्म । भट्टोजीदीक्षित, कारक प्रकरण, 1, 4, 49

2. भात्प्रधानम् आख्यात्म् । यास्क, निरुक्त I

3. यथा छायात्मौ नित्यं सुसंबद्धौ परस्परम् ।

एवं कर्म च कर्त्ता च संश्लिष्टावितरेतरम् ॥

कर्म के लिये उद्यत होता है । इस प्रकार वेत्स रूप से अहंकार एवं कामना ही कर्म के प्रत्यक्ष स्रोत हैं । इसके अतिरिक्त कर्म के अन्य तीन गुह्य स्रोत हैं, जिन्हें श्री अरविन्द ने अतिवेत्स, प्रच्छन्न वेत्स तथा अववेत्स कहा है ।<sup>1</sup> इन गुह्य स्रोतों की अधिकृत करना कठिन होता है । गीता कर्म-सिद्धि के पाँच कारणों अथवा अनिवार्य साधनों का वर्णन करती है ।<sup>2</sup> ये हैं - प्रथम 'अधिष्ठान' अर्थात् देह, प्राण तथा मन का कोश, जो प्रकृति के अन्दर जीव का आधार अथवा अवस्थानभूमि है, द्वितीय 'कर्त्ता' है, तृतीय 'करण' अर्थात् प्रकृति के विविध करणोपकरण, चतुर्थ है 'वैष्टा' अर्थात् ओक प्रकार के प्रयत्न जो कर्म-शक्ति का निर्माण करते हैं तथा अन्तिम है 'दैव' अर्थात् मानवीय कर्तृत्व से, प्रकृति की गोचर कर्म-पद्धति से भिन्न शक्तियों का प्रभाव । वे शक्तियाँ इनके पीछे रहकर कर्म को संशोधित करती हैं । इन पंच तत्त्वों के परस्पर संयोग से ही कर्म के निमित्त-कारण गठित होते हैं ।

कर्म के अस्तित्व के हेतु कर्त्ता का अस्तित्व आवश्यक है । अतः कर्त्ता पर भी प्रकाश डालना आवश्यक है ।

#### 4.2. कर्त्ता

कर्म का आधार कर्त्ता होता है । कर्त्ता के अभाव में कर्म सम्पन्न नहीं हो सकता । नैतिक अथवा अनैतिक दोनों ही प्रकार के कर्मों के उत्तरदायित्व का निर्वाह कर्त्ता ही करता है।

जिसे द्वारा क्रिया सम्पन्न की जाती है उसे कर्त्ता कहते हैं ।<sup>3</sup> यह भी गुणों के आधार पर तीन प्रकार का होता है - सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक ।

1. श्री अरविन्द के पत्र § प्र० भा० § , पृ० 428

2. श्री अरविन्द , गीता प्रबन्ध, पृ० 522

3. स्वतन्त्रः कर्त्ता । पाणिनि, अष्टाध्यायी, 1.4.54

मनोविज्ञान दो प्रकार के कर्त्ता का वर्णन करता है। - अन्तर्मुख  
 § Introvert § तथा बहिर्मुख § Extrovert § । जिनकी स्वाभाविक  
 प्रवृत्ति आन्तरिक जीवन के अनुसन्धान में होती है उन्हें अन्तर्मुख कहते हैं तथा  
 जिनका स्वाभाविक झुकाव बाह्य संसार में कार्य करने की ओर होता है उन्हें  
 बहिर्मुख कहते हैं ।

#### 4.2.1. कर्त्ता की स्वतन्त्रता

मनुष्य का आचरण उसके चरित्र पर निर्भर है । जैसा चरित्र है ।  
 वैसा ही मनुष्य का आचरण होता है । चरित्र मनुष्य के संकल्प करने के अभ्यास  
 § Habit of will § को कहा जाता है ।<sup>2</sup> चरित्र ही के कारण समान  
 परिस्थिति में दो मनुष्यों का आचरण दो प्रकार का हो जाता है । अतः चरित्र  
 से तात्पर्य है मनुष्य की अपनी मानसिक तथा नैतिक प्रकृति जिसके कारण वह दूसरे  
 मनुष्य से भिन्न है । चरित्र स्वभाव से भिन्न है, क्योंकि स्वभाव प्राकृतिक है ।  
 यह नैतिक जीवन का प्राकृतिक उपादान है । स्वभाव में सहजात प्रवृत्तियाँ तथा  
 वासनाएँ निहित होती हैं । परन्तु चरित्र अर्जित होता है । आचरण मनुष्य का  
 ऐच्छिक किंवा अभ्यास-जन्य कर्म है । यह सवेत्त इच्छायुक्त कर्म है । आचरण मनुष्य  
 के चरित्र का व्यक्त रूप है । आचरण किसी अवसर पर की गयी इच्छा को कहते  
 हैं । अतः चरित्र का सम्बन्ध मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व से है , जबकि आचरण  
 का कर्म से ।<sup>3</sup> मनुष्य के आचरण से ही उसका चरित्र निर्मित होता है । चरित्र  
 उसका स्थायी व्यवहार है । जैसा चरित्र निर्मित होता है उसी के अनुकूल उसका

1. तुलना करें - लोकेडस्मिन्दि विद्या निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।

ज्ञानयोगेन सांख्यानं कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ गीता, 3/3

2. श्रीराम कुमार वर्मा, प्रारम्भिक आचारशास्त्र, पृ० 3

3. वही, पृ० 46-47

आचरण होता है। अतः अमुक अवसर पर अमुक व्यक्ति किस प्रकार का व्यवहार करेगा यह उसके चरित्र पर ही निर्भर है। उसका कर्म निश्चित रूपेण वैसाही होगा जैसा कि उस अवसर पर उसका इच्छा - क्षेत्र होगा, जो कि चरित्र पर निर्भर है।<sup>1</sup>

कर्म करने में कर्त्ता स्वतंत्र है अथवा नहीं? इस विषय में विवाद है। ऋग्वेद की मान्यता है कि मनुष्य त्रिधा बद्ध है। यह बन्धन तीन गुणों अथवा तीन कर्मों अथवा तीन कालों का हो सकता है। इसी बन्धन के कारण मनुष्य पाप करता है। अतः जब तक बन्धन है तब वह पाप करने को बाध्य है। ऐसी स्थिति में उसकी स्वतन्त्रता आहत होती है। परन्तु उक्त मन्त्र में कहा गया है 'हे वरुण ! तुम्हारे नियम पर चलते हुए हम अदिति के प्रति निष्पाप हो सकें।' <sup>2</sup> यहाँ 'त्व व्रते' शब्द से स्पष्ट होता है कि मनुष्य पाप और पुण्य के मध्य कथन करने में स्वतंत्र है। परवर्ती वाङ्मय भी इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार यह पुरुष काममय है, जैसी उसकी इच्छा है, वैसाही उसका संकल्प होता है तथा संकल्प के अनुसार ही वह कर्म करता है।<sup>3</sup> छान्दोग्य का कथन है कि आत्मज्ञान हो जाने पर ही मनुष्य समस्त लोकों में विचरण कर सकता है।<sup>4</sup> वह जिस वस्तु की कामना करता है वह उसके संकल्प मात्र से उत्पन्न हो जाती है।<sup>5</sup> गीता के अनुसार मनुष्य की कर्म में स्वतन्त्रता है। वह चाहे तो अपना उद्धार भी कर सकता है तथा चाहे तो पतन भी।<sup>6</sup> बोना-वेन्त्यूरा<sup>7</sup> का विचार है कि परमात्मा मनुष्यों पर कृपा करना चाहता है, परन्तु

1. वही, पृ० 86

2. उदुत्तमं वरुणं पाशमस्रदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।

अथा क्यमादित्य व्रते त्वानांगसो अदित्ये स्याम ॥ ऋ० १, 24, 15

3. बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.4.5

4. छान्दोग्योपनिषद्, 3/16

5. वही, 8/2/10

6. उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।

आत्मेव ह्यात्मनो बन्धुरात्मेव रिपुरात्मनः ॥ गीता 6/5

7. डा० राधाकृष्णन्, भगवद्गीता, पृ० 362

केवल उन लोगों पर, जो अपने आचरण द्वारा अपने आपको उस कृपा को ग्रहण करने के लिये तैयार रखते हैं। यही विचार श्री अरविन्द के भी है। उनके अनुसार भगवान् केवल पथ दिखाता है परन्तु चलने के लिए बाह्य नहीं करता। मनुष्य को यह आत्म-रिक्त स्वतंत्रता प्राप्त है कि वह चाहे तो भागवत पथ प्रदर्शन को स्वीकार करे अथवा न करे।<sup>1</sup>

ऋग्वेद के एक मंत्र में चरित्र को प्रधान बनाते हुए कहा गया है कि "हे इन्द्र ! जो व्यक्ति नींद आते ही सो जाता है बिना नियम के पालन किये हुए, वह देवदूष से मुक्त नहीं होता। वह अपने ही आचरण के द्वारा अपनी पोषक सम्पत्ति का विनाश करे, उसे तुम गुप्त स्थान पर रख दो।"<sup>2</sup> यहाँ यह स्पष्ट है कि मनुष्य स्वयं ही अपनी उन्नति अथवा अवनति करने वाला है। वह अपने कर्मों में पूर्णतः स्वतन्त्र है। ओजी के प्रसिद्ध नाटककार एवं कवि शेक्सपियर ने भी कहा है कि चरित्र ही भाग्य है।<sup>3</sup> परन्तु देवता भी उसी की सहायता करते हैं जो आत्म-सहायक होता है। यदि मनुष्य भ्रान्त पथ पर ही चलता रहता है तो अन्ततः उसमें असुर पूर्ण रूपेण जन्म ले लेता है तथा जब एक बार वह ज्योति एवं सत्य से पराङ्मुख हो जाता है तो अपने अन्दर दिव्य शक्ति का अत्यधिक दुरुपयोग होने के कारण ही वह पुनः अपने पतन की घातक गति का निराकरण तब तक नहीं कर पाता जब तक वह यह न जान ले कि उसका पतन किस सीमा और कहाँ तक हो चुका है।<sup>4</sup> अतः कहा जा सकता है कि कर्मफल को निश्चित करने का कार्य यद्यपि

1. श्री अरविन्द के पत्र §द्वि० भा०॥ पृ० 94

2. य इन्द्र सस्यैत्रतोऽनुष्वापमदेव्युः ।।

स्वैः ष एवैर्मुमुक्षुष्यै रयिं संनुर्धहि त तत्तः ॥ ऋ० 8,97,3

3. Character is destiny.

4. श्री अरविन्द, गीता प्रबन्ध, पृ० 496

ईश्वर का है तथापि वह कर्त्ता के कर्म-अकर्म की योग्यता के अनुरूप ही इसे निश्चित करता है। मनुष्य नैतिक अथवा अनैतिक किसी भी पथ पर चलने में पूर्णतः स्वतन्त्र है। परन्तु उसके कर्म उसके चरित्र, आवरण तथा आन्तरिक गुणों पर निर्भर होते हैं।

#### 4.2.2. कर्त्ता की परतन्त्रता

अनेक दार्शनिक जहाँ कर्त्ता को स्वतन्त्र मानते हैं वहीं उसकी परतन्त्रता को भी मान्यता देते हैं।

ऋग्वेद में चरित्र के साथ भाग्य की प्रबलता को भी सिद्ध करने वाली श्रुताएँ विद्यमान हैं। एक श्रुति में भाग्य ही को विधाता के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि "जैसा देवता चाहेते है वैसा ही हो जाना है तथा उनकी इच्छा-पूर्ति का कोई हनन नहीं करना, कृपण मनुष्य भी देवताओं की इच्छा होने पर उदार हो जाना है।" यहाँ प्रत्यक्ष रूप से भाग्य को चरित्र से अधिक बलवान कहा गया है।

इसी भाँति इन्द्र स्वयं को ही वास्तविक कर्त्ता बताने हुए कहते हैं कि "हे स्तोत्रा ! तू मेरे विषय में यह भी जान लो कि मेरे कारण ही नदियाँ उलटी बह जाती हैं, मृग सिंह के समक्ष जाना है तथा गीदड़ वन से सूर को निष्कासित कर देता है। यह सब मेरी ही शक्ति के कारण होता है।" इस मन्त्र में अम्भव घटनाओं का भी केवल इन्द्र द्वारा सम्भव होना वर्णित किया गया है। जिससे प्रकट होता है कि मनुष्य के दुष्कर कार्य भी देवेच्छा द्वारा सम्पन्न

1. यथा वक्षन्ति देवास्तथेदं सत्तद्देवां न किरा भिनत् ।

अतो वा च न मर्त्यः ॥

ऋ0 8, 23, 4

2. इदं सु मे जरित्तरा विकिदि प्रतीपं शार्पं नृणां वहन्ति ।

लोपाशः सिंह प्रत्यक्षमत्ताः क्रोष्टा वराहं निरत्क्त्वक्षात् ॥ ऋ0 10, 28, 4

होने है ।<sup>1</sup> इसी सूक्त के अन्य मन्त्र भी भाग्यवाद के मत को पुष्ट करते हैं । इस प्रश्न के उत्तर में किष्क्या परमात्मा अपनी सर्वज्ञता से इस बात को पहले से जान सकता है कि मनुष्य किस प्रकार का आचरण करेगा इसके उत्तर में डा० राधाकृष्णन्<sup>2</sup> का कथन है कि परमात्मा जानता है कि प्रवृत्तियाँ अनिर्धारित होती हैं तथा जब वे वास्तविक रूप धारण कर लेती हैं तो उसे उनका ज्ञान हो जाता है । कर्म का सिद्धान्त परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता को सीमित नहीं करता । ऋग्वेद में वर्णित ऋत अथवा व्यवस्था समस्त वस्तुओं में विद्यमान है जो कि परमात्मा का ही नियम अथवा संकल्प है ।

गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए विस्तार से बताया कि मनुष्य अहंकार के वशीभूत होकर स्वयं को वास्तविक कर्त्ता अनुमित कर लेता है । परन्तु वास्तविक कर्त्ता तो मैं हूँ ।<sup>3</sup>

चाणक्य के विचार में जो नहीं होना है वह कभी नहीं होगा तथा होनी बिना यत्न के भी होकर रहेगी । जिस वस्तु का होना नहीं है वह हाथ

1. तूजना करें - "दुर्बल भी सबल पर विजय अल्लाह की अनुज्ञा से प्राप्त कर सकता है ।" कुरआन, अल-बक़रा, 249

2. डा० राधाकृष्णन्, भगवद्गीता, पृ० 23

3. अहं सर्वस्य प्रभवो मन्तः सर्वं प्रवर्तते ।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ गीता 10/8

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ वही, 20

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।

न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं वरावरम् ॥ वही, 39

में आने पर भी नष्ट हो जाती है ।<sup>1</sup> इसके अनिरिक्त जीव के गर्भवास-काल में ही आयु, कर्म, धन, विद्या तथा मृत्यु की सृष्टि साथ ही साथ हो जाती है ।<sup>2</sup> भर्तृहरि ने भी भाग्य की प्रबलता को स्वीकार किया है ।<sup>3</sup>

इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कर्त्ता की कर्म में परतन्त्रता है, प्रकारान्तर से यह भी कहा जा सकता है कि मनुष्य का भाग्य प्रबल होता है चरित्र नहीं ।

कुरआन भी कहता है कि मनुष्य के जीवन में सब कुछ अल्हाह की इच्छा से होता है ।<sup>4</sup> अतः वास्तविक निर्माता वही है ।<sup>5</sup>

यदि उपर्युक्त सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाय तो यह समस्या उत्पन्न होती है कि जब ईश्वर ही कर्त्ता है एवं भाग्य ही प्रबल है तो फिर ऐसी परतन्त्र परिस्थिति में मनुष्य के अस्तित्व का क्या महत्त्व है ? ऐसी विषम परिस्थिति में फिर पुण्य एवं पाप का अथवा नैतिकता एवं अनैतिकता का निर्णय किस आधार पर होगा ?

1. नहि भवन्ति यन्न भाव्यं भवन्ति च भाव्यं विनापि यत्नेन ।

अरत्नगतम्पि नश्यति यस्य हि भवितव्यता नास्ति ॥ पंचमंत्र, मित्रसम्प्राप्ति-10

2. आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च ।

पञ्चैतानि हि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥ वाणक्य नीति दर्पण 4/1

3. नाभाव्यं भवतीह कर्मवशनो भाव्यस्य नाशः कुतः ॥ नीतिशतक, 101

4. कुरआन, सूरः यूनस , 49

5. वही, 100



इस समस्या का निराकरण करने हुए ऋग्वेद कहता है कि "हे देवताओ ! पापी का दूष्परिणाम व्यापक है तथा निष्पाप के लिए अधिक रत्न है ।<sup>1</sup> इससे प्रकट होता है व्यक्ति अपने कर्मों के अनुसार ही फल प्राप्त करता है, देवता उसे अन्यथा नहीं देते । यदि वह औत्तिक कार्य करेगा तो देवता उसे दण्डित करेंगे तथा नैतिक कार्य करेगा तो पुरस्कृत।<sup>2</sup> इसी प्रसंग में अन्यत्र कहा गया है कि सरस्वती उदार देता एवं उपासक को सुपुत्र प्रदान करती है तथा स्वार्थी का कष्ट करती है ।<sup>3</sup> इस प्रकार कहा जा सकता है कि मनुष्य अपने जीवन में जो कुछ भी प्राप्त करता है उसका कारण वह स्वयं है । मनुष्य ही वास्तविक कर्त्ता है । देवता उसके कर्मों के आधार पर ही उसे फल प्रदान करके यह इंगित करते हैं कि उसने पुण्य किया था अथवा पाप । यदि वे फल न दें तो इस बात का निर्णय ही नहीं हो पायेगा कि नैतिक तथा औत्तिक कर्म में श्रेयस्कर कौन है ।

उपर्युक्त मन को अनुमोदित करने हुए भागवत् में कहा गया है कि उपासक की श्रद्धा के अनुसार ही उपासनाका फल उसे प्राप्त होता है ।<sup>4</sup> अर्थात् मनुष्य केवल कर्म करने में स्वतन्त्र है परन्तु फल प्राप्त करने में नहीं । मनुष्य कर्म करता है तथा ईश्वर उसे तर्मानुसार फल देता है । इसको इस दृष्टान्त से भी समझा जा सकता है कि कोई पुस्तक विक्रेता किसी पुस्तक का मूल्य 100 रूपए रखता है और यदि कोई व्यक्ति 100 रूपए एकत्रित करके उसने पास जाय तो विक्रेता मूल्य के आधार पर उसे पुस्तक दे देगा । इस दृष्टान्त में ग्राहक स्वतन्त्र है कि

1. अस्ति देवा अंहोर्ह्वस्ति रत्नमनांसः । आदित्या अद्भुतेनसः ॥ ऋ0 8,67,7

2. कृना करे - ये यथा मां प्रपन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥ गीता 4/11

3. इयमददाद्रभसमृणच्युतं दिवोदासं कश्यश्वाय दाशुषे

या शश्वन्त्माघरवादावसं पुंणि ता ते दात्राणि तविषा सरस्वति ॥ ऋ06,61,1

4. श्रदानुरूपं फलहेतुकत्वात् । भागवत् , 8-17

वह पुस्तक का क्रय करे अथवा न करे । इसी भाँति विक्रेता भी स्वतन्त्र है कि वह पुस्तक का विक्रय करे अथवा न करे । ग्राहक को पुस्तक उसके अर्जित रूपए के आधार पर ही प्राप्त होगी । ग्राहक रूपए अर्जित करने में पूर्णतः स्वतन्त्र है परन्तु यह अनिवार्य नहीं कि विक्रेता उसे पुस्तक दे ही दे । यदि उसकी इच्छा न हो तो वह विक्रय नहीं भी कर सकता है । इस प्रकार ग्राहक स्वतन्त्र भी है तथा परतन्त्र भी ।

इसी दृष्टान्त के आधार पर ईश्वर तथा मनुष्य के मध्य विद्यमान चरित्र तथा भाग्य के सिद्धान्त का भी अधिगमन किया जा सकता है । मनुष्य अपने कर्म करने में पूर्णतः स्वतन्त्र है । वह जैसा कर्म करेगा वैसा ही फल उसे प्राप्त होगा । फल देना अथवा न देना यह ईश्वर के अधीन है । यदि वह चाहे तो कर्म विशेष का वाञ्छित फल न भी दे परन्तु वह ऐसा करता नहीं है, क्योंकि वह ऋतु का पालन करता है ।

यही बात कुरआन में भी कही गयी है कि निस्सन्देह अल्लाह किसी जाति की दशा नहीं परिवर्तित करता जब तक कि वह स्वयं अपने आपको नहीं परिवर्तित करती ।<sup>1</sup> वास्तविकता यह है कि परमात्मा मनुष्यों के समक्ष प्रस्ताव रख देता है और उसे स्वीकार करना अथवा न करना मनुष्य का कार्य है। अतः भाग्य और कुछ नहीं एक शाश्वत कार्य-कारण सम्बन्ध है जो विधि अथवा विधान का दूसरा नाम है तथा यह विधान आत्मा की नुष्टि के लिए प्रकृति के हाथ में यन्त्र मात्र है । विधान और कुछ नहीं केवल क्रिया की प्रणाली अथवा नियम है । प्रत्येक पृथक् सत्ता तथा व्यक्ति में एक विविक्त स्वभाव है जिसके

---

1. कुरआन, सूरः अर - रज़्द, 11

अनुसार वह कार्य करता है ।<sup>1</sup> जिन लोगों की इच्छा-शक्ति क्षीण हो जाती है, वे ही भाग्यवाद को प्रसन्नता से स्वीकार करते हैं ।<sup>2</sup>

उक्त विचारों का सिंहावलोकन करके यह कहना समीचीन होगा कि मनुष्य कर्म के प्रति पूर्णतः स्वतन्त्र है परन्तु फल के प्रति नहीं<sup>3</sup>, तथापि उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है जैसा कि उसका कार्य होता है । इससे अन्यथा वह अन्य कुछ नहीं प्राप्त करता है । इस प्रकार मनुष्य अपने नैतिक अथवा अनैतिक कर्मों का स्वयं उत्तरदायी है । भास तो यहाँ तक कहते हैं कि सच्चरित्र व्यक्ति के समक्ष भाग्य भी झुक जाता है ।<sup>4</sup>

चरित्र एवं भाग्य पर तुलनात्मक दृष्टिपात करके यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मनुष्य देश एवं काल की निर्मिति होने के कारण सीमित है । अतः इसी सीमितता के कारण वह कहीं विवश भी है एवं परतन्त्र भी ।<sup>5</sup> परन्तु वह प्रयास करे तो दिक्कालातीत होकर सीमित भी हो सकता है, जहाँ विवशता एवं परतन्त्रता का वित्ति न होकर उन्मुक्त एवं अनन्त आकाश की स्वतंत्रता उसका स्वागत करने को लालायित है ।<sup>6</sup>

1. श्री अरविन्द, पुनर्जन्म और क्रम-विकास, पृ० 27।

2. डा० राधाकृष्णन्, धर्म और समाज, पृ० 56

3. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु ल्दावन ।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ गीता, 2/47

4. न हि सिद्धवाक्या न्युत्क्रम्यगच्छति विधिः सुपरीक्षितानि । स्वप्नवासवदन्तम् ।।

5. जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ॥ गीता 2/27

6. अक्षब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं त्थारसं नित्यमगन्धवच्चक्षुः ।

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निवाय्य तन्मृत्युमुरवात् प्रमुच्यते ॥

#### 4.3. कर्म के प्रकार

मीमांसकों ने चार प्रकार के कर्म बताये हैं - नित्य, नैमित्तिक, काम्य एवं निषिद्ध । ऐसे कर्म जिनके करने से तो विशेष पुण्य न हो परन्तु न करने से हानि हो, नित्य कर्म कहलाते हैं । जैसे- सन्ध्यावन्दन । जो कर्म किसी निमित्त के आपड़ने पर किये जाते हैं, नैमित्तिक कहलाते हैं । जैसे ग्रहण-स्नान । जो कर्म किसी फल की प्राप्ति के लिये किये जाते हैं उन्हें काम्य कहते हैं । जैसे स्वर्ग प्राप्ति के लिये ज्योतिषटोम यज्ञ । तथा जिनके करने से नरक की प्राप्ति हो वे निषिद्ध कर्म कहलाते हैं । जैसे ब्रह्महत्या, गोहत्या इत्यादि ।

ऋत-वेदान्तियों के अनुसार कर्म तीन प्रकार के होते हैं - संचित, त्रियमाण तथा प्रारब्ध । संचित घर में रखे गये अन्न की भाँति, त्रियमाण कर्म क्षेत्र में बीजरूपी अन्न के समान तथा प्रारब्ध कर्म भुक्त अन्न के समान है ।<sup>2</sup>

ऋग्वेद में संचित पापों के विषय में कहा गया है कि "हे वरुण ! तुम्हारी ओषधियाँ सहस्रों हैं, तुम्हारी कल्याण बुद्धि गम्भीर है । अव्यवस्था को रोक दो तथा हमसे किये हुए पाप को छुड़ा दो ।"<sup>3</sup> यहाँ उन पापों के विषय में कहा जा रहा है जो संचित हैं अर्थात् जिनके फल मिलने आरम्भ नहीं हुए हैं । ऋषि की मान्यता है कि धूल अथवा मेल ही की भाँति पाप का भी प्रक्षालन किया जा सकता है । परन्तु इसके लिये देव सहायता आवश्यक है ।

1. देखे- श्री सदानन्द, वेदान्तसार ।

2. बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 374

3. शतं ते राजन्निभषजः सहस्रेमूर्वी गभीरा समृतिष्ठे अस्तु ।

बाधस्व दूरे निर्ऋतिं पराचैः कृतं विदेनः प्र मुमुग्ध्यस्मत् ॥

ऋषि उन दुष्कर्मों तथा आवरण के प्रति जो अभी फलीभूत नहीं हुए हैं, सचेत है। उसकी मान्यता है कि ये संचित कर्म अवचेतन में सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहते हैं, जिनका आभास उसे स्वप्न के माध्यम से होता है।<sup>1</sup>

इसी प्रकरण से सम्बन्धित एक मन्त्र में कहा गया है कि "मैं ऋणालु रुद्र के उन पुत्रों की स्तुति करता हूँ, कदाचित वे मरुद्गण मेरे समक्ष पुनः जायें, जो मरुद्गण निरोहित एवं प्रकट पापों से घृणा करने हैं। हम उनकी स्तुति से उक्त दोनों पापों से शीघ्र मुक्त हो सकें।"<sup>2</sup> इस मन्त्र में मरुद्गण को प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष पापों से घृणा करने वाला कहा गया है। यहाँ प्रत्यक्ष पाप का तात्पर्य प्रारब्ध पाप से तथा अप्रत्यक्ष पाप का संचित पाप से है।

यदि क्षण को जानकर शाश्वत को जाना जा सकता है एवं बूँद को समझकर सागर को समझा जा सकता है तो पाप के भेद का ज्ञान कर समस्त कर्मों को भी अधिगम्य किया जा सकता है। अर्थात् यदि पाप तीन प्रकार के हो सकते हैं जो कि स्वयं कर्म के ही विभाग हैं तो समस्त कर्म भी स्वतः तीन प्रकार के सिद्ध हो जाते हैं।

उपर्युक्त मन्त्रों में संचित तथा प्रारब्ध कर्मों का वर्णन है। इसके अनिर्वक्तव्य विद्यमान कर्मों का उल्लेख उक्त मन्त्रों में हुआ है, जहाँ ऋषि नेतिक कर्मों को करने का दृढ़ संकल्प लेता है।<sup>3</sup>

1. यदा शैला निः शसोभिः सोपाग्निम जाग्रतो यत्स्वपन्तः ।

अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्य जुष्टान्यारे अस्मदूधान् ॥ ऋ0 10, 164, 3

2. तौ आ रुद्रस्य मीळुषौ विवासे कुविन्सन्ते मरुतः पुनर्नः ।

यत्स्वर्ता जिहीर्विरे यदाविरव तदेन ईमहे तुराणाम् ॥ ऋ0 7, 58, 5

3. न त्वा रासीयाभिः सन्त्ये त्सो न पापत्वाय सन्त्ये ।

न मे स्तोतामतीवा न दुर्हितः त्यादग्ने न पापया ॥ ऋ0 3, 19, 26

ऋग्वेद में 'कर्मयोग' तथा 'ज्ञानयोग' के अंकुर योगपद्य रूप में देखे जा सकते हैं, जो आगे पल्लवित होकर गीता के रूप में प्रस्तुत हुए हैं। ऋग्वेद का कर्मयोगी ऋषि अपने अहंकार का विसर्जन यह कह कर करता है कि वास्तविक याज्ञिक तो अग्निदेव है मैं नहीं।<sup>1</sup> वह स्वयं को कर्त्ता नहीं मानता है। उसके यह भाव एक मन्त्र में भी देखे जा सकते हैं जहाँ वह कहता है कि - "हे सत्यस्वरूप अग्नि ! गृहपति के नियम के अनुसार तू यज्ञों को चलाते हो। देवताओं की उपासना के लिए तू उनका यजन करो।"<sup>2</sup>

एक मन्त्र में ज्ञानयोग का इच्छुक ऋषि कहता है कि "हे आदित्यो ! हमें सुख प्रदान करो, पापी व्यक्ति को भी जो पाप से मुक्त करती है वैसी शान्ति हमें दो।"<sup>3</sup> इस मन्त्र में वेत्ता के उस तत्त्व की बात कही जा रही है जहाँ पापी भी निष्पाप हो जाता है। गीता में यही बात इस प्रकार कही गयी है - जिस पुरुष के {अन्तःकरण में} मैं कर्त्ता हूँ {ऐसा} भाव नहीं है {तथा} जिसकी बुद्धि {सांसारिक पदार्थों में तथा सम्पूर्ण कर्मों में} लिप्त नहीं होती वह पुरुष इन सब लोकों को मारकर भी न मारता है न पाप से बंधता है।"<sup>4</sup>

1. ऋ0 10,2,5

2. गार्हपत्येन सन्त्य कृत्वा यज्ञीरति । देवान्देव्यते यज ॥ ऋ0 1,15,12

3. तत्सु नः शर्म यच्छतादित्या यन्मुमोवति । एनस्वन्तं विदेनसः सुदानवः ॥

ऋ0 8,18,12

4. यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।

हत्वापि स झ्माँल्लोळान्न हन्ति न निबध्यते ॥

एक मन्त्र में कहा गया है कि जहाँ से मर्त्य उत्पन्न हुआ है वहीं से अमर्त्य भी । अतः मनुष्य में ये दोनों ही तत्त्व विद्यमान हैं । इनमें से अमृत तत्त्व अपनी मौलिक प्रकृति को यथावत् बनाये हुए आता-जाता रहता है । वह मर्त्य के संग ही है परन्तु अवसित नहीं होता । मर्त्य का ज्ञान तो सभी को है, परन्तु ऋषि के लिये अमर्त्य-ज्ञान महत्त्वपूर्ण है ।<sup>1</sup> उसे जान लेना ही उसका ध्येय है और गीता का ज्ञानयोग ।

ऋग्वेद में अदिति से समस्त संसार की व्युत्पत्ति बतायी गयी है ।<sup>2</sup> राँथ के अनुसार अदिति दिव्य ज्योति में निहित सनात्म तत्त्व है ।<sup>3</sup> इस मत के साथ निकट सहमति में हिल्लेब्राण्ड्ट का कहना है कि अदिति का तात्त्विक सम्बन्ध प्रकाश एवं परम व्योम के साथ है तथा वह स्वयं दिन की ज्योति का अविनाश्वर पक्ष है ।<sup>4</sup> मैक्समूलर के मत में अदिति से तात्पर्य दृश्यमान अनन्त के संकेतक असीम आकाश से है ।<sup>5</sup>

जो भी तत्त्व संमिश्रण अथवा संघात होंगे वे नश्वर भी होंगे । केवल अण्ड तत्त्व ही अनश्वर होता है । इस दृष्टि से अदिति संसार का मूल तथा अद्वैत तत्त्व है ।<sup>6</sup> वह अण्डता की स्थिति है । ऋषियों के जीवन का लक्ष्य उस तक पहुँचना था, क्योंकि वहीं पहुँच कर दुःखों से मुक्ति सम्भव है ।

1. अण्डः प्रदेति स्वर्ध्या गृभीतोऽमर्त्योमर्त्येना स्योनिः ।

ता शश्वन्ता विषूचीना विप्यन्ता न्योन्यं विक्क्युर्न नि विक्क्युर्न्यम् ॥

ऋ0 1, 164, 38

2. ऋ0 10/72

3. ए0 बी0 कीय, वैदिक धर्म एवं दर्शन, पृ0 268

4-5. वही

6. तुजना करें- त्रैकस्थ जगत्कृत्स्नं प्रविभक्त्यनेकधा ।

अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥

गीता, 11/13

इस विचार को व्यक्त करते हुए ऋग्वेद में कहा गया है कि "हे वरुण ! ऊपर वाले पाश को नीचे वाले पाश को तथा मध्य वाले पाश को शिथिल करो जिसके परिणामस्वरूप तुम्हारे नियम पर चलते हुए हम अदिति के प्रति निष्पाप हो सकें ।"<sup>1</sup> इस मन्त्र में तीन पाशों का वर्णन है जिससे कि मनुष्य बंधा है । बहुत कुछ संभव है कि ये तीनों बन्धन सत्त्व, रज तथा तम के हैं । इन्हीं से प्राणी बंधा है । जब तक यह बन्धन है तब तक पापों से मुक्ति सम्भव नहीं है । निष्पाप होने का अन्तिम लक्ष्य है अदिति तक पहुँचना । अतः त्रिविध बन्धनों से मुक्त होकर ही अंततः तत्त्व तक गमन सम्भव है । श्वेताश्वेतरूपनिषद् में भी कहा गया है कि परमेश्वर का ज्ञान होने पर सब पाशों से मुक्ति प्राप्त हो जाती है ।<sup>2</sup> ईशावास्योपनिषद् के विचार में विद्या द्वारा ही अमृतत्व की प्राप्ति सम्भव है ।<sup>3</sup>

उपर्युक्त वैदिक विचार ही पल्लवित होकर गीता में कर्मयोग एवं ज्ञानयोग के रूप में प्रस्तुत हुआ है ।

गीता के अनुसार पृथ्वी तथा आकाश में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जो प्रकृति से उत्पन्न सत्त्व, रज तथा तम इन तीन गुणों से मुक्त हो ।<sup>4</sup> इसी आधार पर उसने कर्म भी तीन प्रकार के बनाये हैं<sup>5</sup> - सात्त्विक, राजसिक तथा

1. अदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रियाय ।

अथा व्यमादित्य व्रते त्वानागसो अदित्ये स्याम ॥ ऋ0 1,24,15

2. ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ श्वेताश्वेतरूपनिषद्, 5.13, 6.13

3. विद्याऽमृतमनुते ॥ ईशावास्योपनिषद्, ॥

4. न च्छस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।

सन्त्वं प्रकृतिर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः ॥ गीता 18/40

5. श्री तिलक, गीता रहस्य, पृ0 283



तामसिक । जिस कर्म को मनुष्य शान्त भाव से, बुद्धि एवं ज्ञान के शुद्ध प्रकाश में, न्याय्य अथवा कर्त्तव्य-कर्म के सम्बन्ध में अथवा किसी आदर्श की माँग के विषय में एक निर्वैयक्तिक भावना को लेकर तथा फल की आकांक्षा से रहित होकर पूर्ण करता है वह सात्त्विक कर्म है ।<sup>1</sup> जिस कर्म को मनुष्य कामना के वशीभूत होकर केवल कर्म एवं उसके प्रत्याशित फल पर ही दृष्टि रखकर अथवा अपने कर्मगत व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अहंमूलक भाव रखते हुये सम्पन्न करता है वह राजसिक कर्म है ।<sup>2</sup> जो कर्म सहज-प्रेरणाओं, आवेगमय प्रवृत्तियों तथा दृष्टिस्थान्य धारणाओं का यंत्रवत् अनुसरण करते हुए विमूढ़, भ्रान्त तथा अज्ञ मन के साथ किया जाता है तथा जिसमें शक्ति किंवा सामर्थ्य का, प्रयास अथवा परिश्रम के पूर्ववर्ती कारण तथा भावी फल एवं यथावत् अवस्थाओं का तनिक भी विचार नहीं किया जाता, वह कर्म तामसिक होता है ।<sup>3</sup>

मण्डन मिश्र ने 'ब्रह्मसिद्धि' में कर्म तथा ज्ञान के सम्बन्ध में सात विभिन्न मतों का उल्लेख किया है <sup>4</sup> -

1.- वेद के तर्ककाण्ड में बताया गयी विधियाँ मनुष्यों को उनकी स्वाभाविक गतिविधियों से विमुख करके चिन्तात्मक गतिविधि की ओर ले जाती हैं, जो आत्मज्ञान के लिए आवश्यक बतायी गयी हैं ।

1. श्री अरविन्द, गीता प्रबन्ध पृ० 525-26

2. वही

3. श्री अरविन्द, गीता प्रबन्ध, पृ० 525-26

4. डा० राधाकृष्णन् , भावद्गीता, पृ० 31

2- ये विविधियाँ उपभोग की इच्छा के द्वारा इच्छाओं का नाश करने के लिए विहित की गयी हैं। इस प्रकार ये चिन्तन के लिए वह मार्ग तैयार करती हैं जो आत्मज्ञान की ओर ले जाता है।

3- कर्म का पालन करना 'ऋणत्रय' से उद्धार होने के लिए आवश्यक है, जो आत्मज्ञान के लिए प्रथम अनिवार्य तत्त्व है।

4- विहित विधियों का एक द्विविध प्रयोजन संयोग-वियोग है जिनके द्वारा वे प्रत्याशित कामनाओं की पूर्ति करती हैं एवं मनुष्य को आत्मज्ञान के लिए उद्यत करती हैं।

5- कर्म का उद्देश्य मनुष्यों को शुद्ध करना तथा उन्हें आत्मज्ञान के लिए प्रवृत्त करना है।

6- आत्मज्ञान को एक शोधक-सहायक तत्त्व के रूप में समझना चाहिये, जो कर्मकाण्ड में विहित विभिन्न गतिविधियों की आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक है।

7- कर्म एवं ज्ञान परस्पर विरोधी हैं।

#### 4.4. कर्म के प्रभाव

यह सत्य है कि मनुष्य अपने कर्मों के द्वारा अपने भाग्य का निर्माण करता है, किन्तु उसके द्वारा सृष्ट भाग्य उसे बाँधता है। मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है उसका प्रभाव अथवा फल भी उत्पन्न होता है। ऋग्वेद में कर्म-फल के प्रभाव से सम्बन्धित निम्नलिखित विचार हैं।

#### 4.4.1. कर्त्ता के व्यक्तिगत जीवन पर

---

यह नियम सर्वमान्य है कि नैतिक कर्मों का परिणाम शुभ होता है एवं अनैतिक का अशुभ । सर्व प्रथम नैतिक कर्मों के परिणाम के ऊपर विचार करना उपादेय होगा ।

#### 4.4.1.1. नैतिक कर्म

---

ऋग्वेद में दान की महिमा का विशेष वर्णन मिलता है । एक मन्त्र में कहा गया है कि "दाता को दीर्घ पुण्य मार्ग प्राप्त होता है, अतः अन्न - यावक को अन्न अवश्य प्रदान करना चाहिए । जैसे रथ का पहिया विभिन्न दिशाओं में घुमाया जाता है, वैसे ही धन भी विभिन्न व्यक्तियों के पास जाता-जाना रहता है । वह कभी किसी एक व्यक्ति के समीप अथवा एक ही स्थान पर नहीं टिकता ।"<sup>1</sup> इस मन्त्र में स्पष्ट रूप से कहा जा रहा है कि दाता को सन्मार्ग की प्राप्ति होती है । दान की प्रेरणा के हेतु एक सुन्दर उपमा प्रस्तुत की गयी है । दान का अभिप्राय धन-क्षय नहीं है अपितु दारिद्र्य-नाश है ।<sup>2</sup> वह धन निश्चित रूप से एक व्याधि के समान होता है जो केवल आत्म-भोग के योग्य हो ।<sup>3</sup> यही कारण है कि ऋषि विपुल धन की आकांक्षा करना है, किन्तु स्वयं भोगने के लिए नहीं अपितु दान के लिये ।<sup>4</sup>

---

1. पूर्णियादिन्नाधेमानाय नव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत् पन्थाम् ।

ओ हि वर्तन्ते रथ्येव वृक्षान्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः ॥ ऋ0 10, 117, 5

2. दारिद्र्यनाशं दानं ..... ॥ चाणक्य नीति दर्पण , 5/11

3. स ननु व्याधिर्यः स्वस्थैवोपभोग्यः ॥ सोमदेवसूरि, नीतिवाक्यामृतम् , 11/53

4. शचीभिर्नः शचीवसू दिवा नक्तं दशस्यत्म् ।

मा वा रात्रिर्दसत्कदा वनास्मद्रात्रिः कदा वन ॥ ऋ0 1, 139, 5

दान-कर्म के प्रभाव के विषय में वर्णन करते हुए कहा गया है कि "जो देवताओं को पूर्ण करता है वह देवताओं तक जाता है तथा देवताओं का प्रश्रय लेकर स्वर्ग की उच्चता पर पहुँच जाता है। उसके लिए नदियाँ जल और धी प्रदान करती हैं। यहाँ जो वह दान करता है उसे वह वहाँ सदा प्राप्त करता है।"<sup>1</sup> यहाँ दान के पारलौकिक परिणाम के विषय में कहा जा रहा है।

यह सत्य है कि कर्मों का फल इस संसार में प्राप्त होता है तथापि कुछ ऐसे भी कर्म हैं जिन्हें व्यक्ति परलोक में भोगता है। शुभ कर्म का परिणाम है स्वर्ग तथा अशुभ का नरक। इस मत के अनुसार ऋषि सत्कर्म करता है ताकि उन्हें वह संसार के अतिरिक्त परलोक में भी भोग सके।<sup>2</sup> कुरआन में भी कहा गया है कि कर्मों का फल प्रलय के पश्चात् अवश्य प्राप्त होगा, अतः दान देना चाहिए<sup>3</sup> दानी व्यक्ति की गणना सत्पुरुषों में होती है।<sup>4</sup> दान की उपादेयता को स्पष्ट करते हुए एक मन्त्र में कहा गया है कि "हे अग्ने ! जो व्यक्ति नित्य हवि - दान एवं मन्त्र रूप स्तुतियाँ प्रेरित करने के उद्देश्य से तुम्हारी प्रीति की इच्छा

1. नाकस्य पृष्ठे ऋधि निष्ठति श्रितो यः पृणाति स ह देवेषु गच्छति ।

तस्मा आपो घृतमर्षन्ति सिन्धुस्तस्मा इयं दक्षिणा पिन्वते सदा ॥

ऋ0 1, 125, 5

2. ह्यो न विद्वाँ अयुजि स्वयं धुरितां वहामि प्रतरणीमदस्यूम् ।

नास्या वशिम विमुवं नावृत् पुनर्विद्वान्पथः पुर एत ह्यु नेषति ॥

ऋ0 5, 46, 1

3. देखें - कुरआन, सूरः अज़-ज़ुमर 60-73

4. देखें, वही , सूरः अज़-मुनाफिकून , 10

करता है, वह व्यक्ति सौभाग्यशाली एवं दानशील हो । वह कठिनता से प्राप्त होने वाली अपनी सौ वर्ष की पूर्ण आयु को भोगे । उसके लिए सभी दिन शोभन हों, वह यज्ञ-फल के साधनों से सम्पन्न हो ।”<sup>1</sup>

इस मन्त्र में बताया गया है कि देवताओं को हवि इत्यादि देने रहने से व्यक्ति में दान की भावना जाग्रत होती है तथा उसका भाग्य भी फलप्रद होता है । इस प्रकार वे कर्त्ता की आयु दीर्घ होती है और वह सुख - सम्पन्न होता है ।<sup>2</sup>

ऋग्वेद में विभिन्न दानों के विभिन्न फल निर्दिष्ट किए गए हैं जिसके अनुसार दक्षिणा देने वाले को स्वर्ग के श्रेष्ठ स्थान की, अश्वदान करने वाले को सूर्य की, वस्त्र-दाना को सोम की तथा सुवर्ण देने वाले को अमृतत्व की प्राप्ति होती है ।<sup>3</sup>

इसके अतिरिक्त दान के अन्य फल भी हैं, यथा - दानशील पुरुष की अकाल मृत्यु नहीं होनी, वे पतित नहीं होते, उनकी हिंसा नहीं होती, वे दुःखी नहीं होते तथा वे दान के द्वारा समस्त पार्थिव अथवा दिव्य पदार्थों को प्राप्त करते हैं ।<sup>4</sup>

1. सेदग्ने अस्तु सुभगः सदानुर्यस्त्वा नित्येनहविषाय उवथेः ।  
पिप्रीषति स्व आयुषि दूरोणे विश्वेदेस्मै सुदिना सासदिष्टिः ॥ ऋ04,4,7

2. तुमं जेकी और वफादारी के दर्जे को नहीं पहुँच सने जब तक कि अपनी उन चीजों में से न खर्च करो जो तुम्हें प्रिय है और जो चीज भी तुम खर्च करोगे तो अल्लाह उसका जानने वाला है ।” कुरआन, आले इमरान, 92

3. उच्चा दिवि दक्षिणान्वनो अस्थर्य अश्वदाः सह ते सूर्येण ।  
हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते वासोदाः सोमं प्र निरन्त आयुः ॥ ऋ010,107,2

4. न भोजा ममूर्न न्यर्थमीयुर्न रिष्यन्ति न व्यथन्ते ह भोजाः ।  
इदं यद्विश्वं भुवं स्वर्गं तत्सर्वं दक्षिणेभ्यो ददाति ॥ ऋ0 10,107,8

ऋषियों का विचार है कि दान रूपी सत्कर्म के कारण देवता मनुष्यों की रक्षा करने हैं, जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य निष्पाप रहता है। निष्पापत्व की स्थिति सौन्दर्यात्मक स्थिति है। पाप के कारण कुरूपता जन्म लेती है तथा निष्पापत्व के कारण सौन्दर्य। ऋषि की यह भी धारणा है कि निष्पापत्व एवं अच्छाई एक ही सिक्के के दो रूप हैं।<sup>1</sup>

#### 4.4.1.2. ऐनेतिक कर्म

जिस प्रकार नैतिक कर्मों का फल कर्त्ता भोगता है, उसी प्रकार ऐनेतिक कर्मों का भी। ऋग्वेद में कहा गया है कि "जिस मनुष्य के यहाँ क्षुधार्थ मनुष्य अन्न की याचना करता है, तब वह धन्न तथा अन्न से सम्पन्न पुरुष अपने हृदय को कठोर बना कर उसे भोजन नहीं देता तथा उसके समक्ष स्वयं खाना है, वह पुरुष भी सुख नहीं प्राप्त करता।"<sup>2</sup> यहाँ उस व्यक्ति के विषय में बताया जा रहा है जो अन्य की आवश्यकता पर ध्यान न देकर स्वयं भोग करता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, यदि वह अपने सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं करता तो उसे दण्डित होना पड़ता है।<sup>3</sup> वैदिक नीति बर्बर एवं गड़ेरियों के सिद्धान्तों पर प्रतिष्ठित नहीं है अपितु वह सभ्य एवं स्वस्थ समाज की परिकल्पना में ध्यान मग्न ऋषियों के अतिवेत्त मन से प्रादुर्भूत है। यही कारण है कि ऋग्वेद ने अमानुष व्यवहार करने वाले, अदानी एवं अहंकारी व्यक्ति के लिए अंधकारमय

1. महि वो महतामवो वरुण मित्रं दाशुषे ।

प्रमादित्या अभि द्रुहो रक्षथा नेमध नशदनेहसो व ऊत्यः सुऊत्यो व ऊत्यः ॥  
ऋ0 8,47,1

2. य आधाय कृणानाय पित्वोऽन्तवान्त्सन्नफितायोपजगमुषे ।

स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो वित्स मर्दिनारु न विंदन्ते ॥ ऋ0 10,117,2

3. तुलना करें- दीन-दुःखी को भोजन कराने पर पुण्य मिलता है एवं इसके विपरीत दण्ड ॥ कुरआन, अल-हाक्का, 34

अयोगति का विधान किया है ।<sup>1</sup>

दुष्ट व्यक्ति अपने ही कर्मों द्वारा आहत होता है । यही बात एक मन्त्र में इस प्रकार कही गई है - "हे मरुद्गण ! जो तिरस्कृत एवं दुष्ट व्यक्ति हमारे चित्तों को मारना चाहता है, वह द्रोह के पाशों को स्वयं धारण कर ले । हे मरुद् ! सर्वाधिक न्याने वाले शस्त्र द्वारा उसे तू मारो ।"<sup>2</sup> ऋषि का तात्पर्य है कि यदि घृणित व्यक्ति आचार बुद्धि अथवा अन्तःचेत्ता ॥चिन्तानि॥ को आहत करना चाहता है तो वह अपनी इस दुर्बुद्धि के कारण मारा जाता है । प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि जो दुष्ट चेतने के मार्ग को आक्रान्त करने की इच्छा करता है वह दण्डित होता है । वस्तुतः उसने ही दुष्कर्म प्रत्यावृत्त होकर उसे पीड़ित करने हैं, क्योंकि कर्म निष्फल नहीं हुआ करने ।<sup>3</sup>

जो कोई लुटिलता का आवरण करता है वह समाज, परिवार तथा स्वयं अपने जीवन में अराजकता का बीजारोपण करता है । ऐसे व्यक्ति की सशक्त मनोदशा ही उसकी मृत्यु का कारण बन जाती है । उसे दुर्धर्ष मनोदैहिक रोग आवेष्टित कर लेते हैं ।<sup>4</sup>

ऋग्वेद स्पष्ट शब्दों में कहता है कि जो मनुष्य दूसरों पर मिथ्यारोप अथवा पाप लगाता है उसे जीवन से वंचित होना पड़ता है ।<sup>5</sup>

1. अन्यत्रतममानुषमयज्वानमदेक्यम् ।

अ० स्वः सरवा दुधुवीन पर्वतः सुनाय दस्युं पर्वतः ॥ ऋ० ३, ७०, ११

2. यो नो गरुतो अभि दुर्हणायस्त्रिरश्चित्तानि वसवो जिघांसति ।

द्रुहः पाशान्प्रति स मुवीष्ट तपिष्ठेन हन्मना हन्त्मा तम् ॥ ऋ०, ५९, ८

3. यो नः कश्चिद्रिरिक्षति रक्षस्त्वेन मर्त्यः । स्वेः ष एवै रिरिषीष्ट युर्जनः ॥

ऋ० ८, १३, १३

4. देखें ऋ० १, १२२, ९ / २, २३, ६

5. देखें , ऋ० ५, ३, ७

बुराई का अन्त बुराई ही होता है , इस प्रत्यय के समर्थन में ऋषि कहता है कि "हे इन्द्र ! इन सबको जो रो रहे थे तथा छा रहे थे तुमने उनसेलोकों के परे युद्ध किया तथा उन्हें स्वर्ग से नीचे भस्मसात् कर दिया । सोम निकालने वाले तथा स्तुति करने वाले की तुमने रक्षा की ।"<sup>1</sup>

इस मन्त्र में रुदन ग्लानि का तथा खाना आनन्द का सूचक है । अतः कहा जा सकता है कि ऐतैत्तिक व्यक्ति सुख का अनुभव करते हुए भी रुदन करते रहने हैं । बाह्य सुख को पापमय साधनों द्वारा अर्जित करने पर भी उन्हें अन्तस् में रोना पड़ता है । ऐसे व्यक्ति स्वर्ग से भी वंचित रह जाते हैं । इस मन्त्र के आधार पर निष्कर्ष निकलता है कि ऐतैत्तिक कर्म अनेक फलों को उत्पन्न करते हैं जिनका भोग कर्त्ता को करना पड़ता है ।

उपर्युक्त मन्त्रों के आधार पर यह कहना उचित है कि जो जैसा कर्म करेगा वह वैसा ही फल भोगेगा ।<sup>2</sup> यदि कोई दान करना है अथवा देवताओं को देना है तो इस आत्म-विसर्जन के द्वारा उसका उन्नयन होता है । स्तोत्र का कभी क्षय नहीं होता क्योंकि वह स्थायी तत्त्वों पर चिन्तन करने के कारण स्वयं स्थायित्व को प्राप्त हो जाता है । वस्तुतः दान देना जागरण अथवा चैतन्य का सूचक है क्योंकि जाग्रत ही लोगों की आवश्यकताओं के प्रति सचेत हो सकता है सुषुप्त नहीं । यदि दान जागरण है तो कृपणता निश्चित ही सुषुप्ति होगी । जिस प्रकार सुषुप्त व्यक्ति बाह्य जगत् से असृत होकर अन्तर्जगत् में पूर्णतः लीन हो जाता है उसी प्रकार कृपण भी केवल अपनी ही आवश्यकताओं में निमग्न रहता है । अतः दाता

1. त्वमेतान् रुदतो जक्षत् शवा यो धियो रजस इन्द्र पुरे ।

अवादहो दिव आ दस्यमुच्चा प्र सुन्वतः स्तुवतः शंसमावः ॥ ऋ01, 33, 7

2. तुलना करे - जो भला करेगा अपना ही भला करेगा तथा जो बुरा करेगा अपना ही बुरा करेगा । कुरआन, अल-जास्तिया, 15



एवं कृपण स्वयं उनके जागरण तथा सुषुप्ति के परिचायक है ।<sup>1</sup>

#### 4.4.2. अन्यकृत कर्मों का प्रभाव अन्य पर

ऋग्वेद में वर्णित कर्म-सिद्धान्त के नियम व्यापक एवं अमोघ हैं । ऋषि जब भी किसी तत्त्व का वर्णन करता है तो उसकी सूक्ष्म दृष्टि से कोई भी पक्ष अस्पष्ट नहीं रह जाता । इसीलिए वह उन कर्मों का भी विवेचन करता है जिनके प्रभाव कर्त्ता के व्यक्तिगत जीवन पर न पड़कर अन्य किसी पर पड़ते हैं ।

इसी दृष्टि से एक मन्त्र में कहा गया है कि - "हे अग्नि ! अन्न की कामना से जो तुम्हें देने के निमित्त हव्यादि संचित करता है, जो तुम्हें सोम रस देता है, जो तुम्हें उत्तर वेदी पर अतिथि-रूपेण प्रतिष्ठित करता है तथा जो देवत्व की कामना से अपने सदन में तुम्हें स्थापित करता है, उसका पुत्र धर्ममार्गी, दृढ़ तथा उदार हो ।"<sup>2</sup>

इस मन्त्र में बताया गया है कि आचरण का प्रभाव सन्तानों पर भी पड़ता है । यदि व्यक्ति सत्कर्मी है तो उसकी सन्तान भी नैतिक होगी । नैतिकाचरण अपने परिपार्श्व के अतिरिक्त अन्य को भी प्रभावित करता है । कर्म का प्रभाव समूचे समाज एवं पर्यावरण पर पड़ता है । मनोवैज्ञानिक भी इस तथ्य से सहमत हैं कि किसी का भी व्यक्तित्व अपने परिपार्श्व की उपेक्षा करके निर्मित नहीं होता । पाप हो अथवा पुण्य वह संक्रमित हो ही जाता है ।

1. प्र बोध्योषः पूर्णतो मधोन्यबुध्यमानाः पुण्यः त्सन्तु ।

येदुच्छ मधुवद्भयो मधोनि सेत्स्तोत्रे सूते जारयन्ती ॥ ऋ0 1, 124, 10

2. यस्ते भ्रातृदन्विते विदन्ति निशिषन्मन्द्रमतिथिमुदीरत् ।

आ देव्युरिन्धते दुरोणे तस्मिन्निधिष्वो अस्तु दास्वान्न ॥ ऋ0 4, 2, 7

पाप की संक्रमणशीलता को ध्यान में रखकर कहा गया है कि - "हे देवताओं हम तुम्हारे हैं, फलतः अन्य द्वारा किये कार्य का पाप हमें स्पर्श न करे, हम स्वतः वह कार्य न करें जिसे कि हे वसु ! तुम हमारी हिंसा करो । हे विश्वदेवाः ! तुम लोगों का अखिल संसार पर शासन है तथा शत्रु स्वयं अपने को नष्ट कर ले ।"<sup>1</sup> यहाँ बताया गया है कि दुष्कर्म अन्य व्यक्तियों को भी प्रभावित करता है तथा दुष्कर्मी स्वयं अपनी भी हानि करता है ।

ऋषि की मान्यता है कि सत्कर्मों का प्रभाव आगामी सन्तति पर भी होता है, इसी भाँति दुष्कर्मों का भी । इस मान्यता का वैज्ञानिक आधार भी है। वैज्ञानिकों की धारणा है कि 'जीन' § Gene § अपनी छाप सन्तानों पर पर्याप्त मात्रा में डालने हैं । अतः नैतिक पिता का पुत्र अपने पिता की नैतिकता का कल्पित अंश आनुवंशिकता में निश्चित रूपेण प्राप्त करता है तथा इसी भाँति औत्तिक पिता का पुत्र भी औत्तिकता को प्राप्त करता है ।<sup>2</sup>

महाभारत भी वैदिक विचार से पूर्णतः सहमत है । उसका कथन है कि संभवतः किसी पापी को उसके कर्मों का फल न प्राप्त हो परन्तु यह निश्चित है कि उसके पुत्र-पौत्र तथा प्रपौत्रों को उसे भोगना ही पड़ेगा ।<sup>3</sup>

1. मा व एनो अन्यकृतं भुजेम मा तत्कर्म वसवो यच्चयेध्वे ।

विश्वस्य हि क्षयथ विश्वदेवाः स्वयं रिपुस्तन्वं रीरिषीष्ट ॥ ऋ06, 51, 7

2. तुलना करें - दफन थीं खुद कब्र पे नीचे मेरी अग्र्याशिष्याँ

और मेरे आमाल का साया मेरे बच्चों पे था ॥ राहन इन्दोरी

3. पापं कर्म कृतं किंचिद्यदि तस्मिन्न दृश्यते ।

नृपते तस्य पुत्रेषु पौत्रेष्वपि व नष्टेषु ॥ महाभारत, शान्ति पर्व, 129/21

इसी हेतु ऋषि प्रार्थना करता है कि "हे देव ! मेने देवताओं के प्रति जो घृणा जिह्वा अथवा मन के प्रयोग के द्वारा की हो उस पाप को तुम उस व्यक्ति में धारण कराओ जो हमसे शत्रुता करता है तथा हमें पाप से लिप्त करना चाहता है ।"<sup>1</sup>

यहाँ मानसिक तथा वाक्विक पाप का वर्णन है । देवताओं से घृणा करना अथवा घृणा स्वयं अपने में पाप है । ऋग्वेद में सर्वत्र पाप को भार अथवा लेप आदि के रूप में गृहीत किया गया है । इस प्रकार जब पाप को मूल वस्तु के रूप में कल्पित कर लिया गया तो उस 'पाप की गठरी' को उतार कर कहीं भी फेंका जा सकता है । अतः ऋषि अपने सूक्ष्म पापों का प्रक्षेपण उन पर करना चाहता है जो निष्पाप नहीं है । वस्तुतः ऋषि कभी पाप को समाप्त करना चाहता है तो कभी उसका स्थानान्तरण मात्र ।

श्री अरविन्द<sup>2</sup> के अनुसार समस्त शक्तियाँ विचार, वाणी, अनुभव-शीलता, कार्य एक साथ क्रियाशील होने पर कर्म का निर्माण करती है । ये वस्तुएँ स्वभाव के किसी एक दिशा में विकसित होने में सहायक होती हैं । तदुपरान्त स्वभाव एवं उसके कर्म तथा उसकी प्रतिक्रियाएँ अपने आन्तरिक और बाह्य परिणाम उत्पन्न करती हैं । वे दूसरों पर भी कार्य करती हैं तथा सामान्य शक्ति-समूह में क्रियाएँ उत्पन्न करती हैं जो शीघ्र अथवा अन्तराल से व्यक्ति पर प्रत्यावृत्त हो सकती हैं । श्री अरविन्द के ये विचार इस वैदिक मन के अनुरूप हैं कि कर्म का फल कर्त्ता के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति भी भोगते हैं ।

1. यद्धो देवाश्चक्षुः जिह्वा गुरु मनसो वा प्रयुता देवहेळ्मः ।

आवागे नो अभि दुच्छनायते तस्मिन्देनोक्तवो निधेत्त ॥ ३०।०, ३७, १२

2. श्री अरविन्द के पत्र १५० भाग १, पृ० ५२।

4.5. महायज्ञ  
-----

गंहिताओं को कर्मकाण्ड परक मानकर बुद्ध ने इनका विरोध किया एवं अहिंसात्मक कर्मों का उपदेश दिया। जैन धर्म ने प्रवर्तक श्री महावीर ने भी वैदिक यज्ञ की उपेक्षा की है। इन दोनों धर्मों ने वैदिक मान्यताओं को उच्छिन्न करने का भरसक प्रयास किया। इस समस्या को समाहित करने के लिए उपनिषदों एवं गीता में कर्मकाण्ड के स्थान पर ज्ञानकाण्ड को प्रधानता दी गयी तथा यज्ञ के पूर्व प्रचलित स्वरूप की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की गयी।

परन्तु ऋग्वेद में केवल कर्मकाण्ड को ही महत्त्व नहीं देना है। समाज में ज्ञानी-अज्ञानी तथा अध्यात्मवादी - भौतिकवादी दोनों ही प्रकार के प्राणी निवास करते हैं। अतः इन दोनों के लिए कर्म भी दो प्रकार के होने आवश्यक है। यदि भौतिक पदार्थों के इच्छुक व्यक्ति को अध्यात्मवाद की शिक्षा दी जाय तो वह उसे कदापि ग्रहण नहीं करेगा। अतः वैज्ञानिक पद्धति तो यही है कि वह जिस तत्त्व पर स्थित है उसी तत्त्व पर धर्म का आरम्भ कर दिया जाय। यदि वह सम्पत्ति का इच्छुक है तो वेद-मान्य रीति से उसे धनोपार्जन का मार्ग बताना चाहिए।<sup>1</sup> जब वैदिक मार्ग द्वारा अर्जित धन से उसे वास्तविक सुख का आभास होगा तो उसकी रुचि स्वयमेव अन्य सिद्धान्तों के प्रति भी आकृष्ट होगी जिसके परिणामस्वरूप वह एक दिन क्षुद्र सीमाओं से निजल कर ज्ञान के असीम तत्त्व पर प्रतिष्ठित होगा। वस्तुतः ऋग्वेद में उपर्युक्त नीति को ही आत्मसाद किया गया है।

-----  
1. इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ॥

गीता, 3/12

ऋग्वेद में कहा गया है कि "हे बृहस्पति ! उन लोगों के धन को विकीर्ण कर दो जो स्वयं भोग करते हैं किन्तु मन्त्रों के साथ हमें कुछ नहीं देते हैं। जो लोग अपने नियम से च्युत हैं तथा जो प्रसव अथवा काम में ही लिप्त हैं अथवा जो ज्ञान द्वेषी हैं उन्हें तुम सूर्य से दूर करो ।"<sup>1</sup> इस मन्त्र में उनके विषय में कहा जा रहा है जो स्वयं तो भोग करते हैं परन्तु देवताओं तथा ऋषियों को कुछ नहीं देते ।<sup>2</sup> इस प्रकार के नियमहीन एवं कामी व्यक्ति का स्थान अन्धकारमय है ।<sup>3</sup>

उपर्युक्त प्रकरण को एक अन्य मन्त्र में देखा जा सकता है, जहाँ कहा गया है कि "ऐसे ब्राह्मण जो सोम को प्राप्त करने वाले हैं तथा जो सोम का अभिषव करने वाले हैं उन पर कोई ऋण नहीं रहना । अनुदार व्यक्ति के द्वारा सोम-पान नहीं किया जा सकता ।"<sup>4</sup> इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि सोम चूँकि संसार से परे का आनन्द है, अतः सांसारिक ऋणों से मुक्त हुए बिना उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता ।

उपर्युक्त मन्त्रों के आधार परही आगे चलकर पञ्चमहायज्ञों की कल्पना की गयी । वे हैं - ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ तथा नृयज्ञ ।<sup>5</sup> ये यज्ञ मनुष्य के ऊपर ऋण के समान हैं । अतः उन्हें पूर्ण किये बिना कोई उऋण नहीं हो सकता ।

1. विसृमार्णं कृणुहि वित्तमेषां ये भुञ्जते अपृणन्तो न उक्थेः ।

अपव्रतान्प्रसवे वावृधानान्ब्रह्मद्विषः सूर्याद्यज्यस्व ॥ ऋ0 5,42,9

2. तूना करे - यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।

भुञ्जते ते त्वर्घ पापा ये पवन्त्यात्मकारणात् ॥ गीता, 3/13

3. तूना करे - "और ज़िना ॥व्यभिचार॥ के निकट न जाओ । वह एक अलील कर्म और बुरा मार्ग है"। कुरआन, बनी ईसराईल, 32

4. न नूनं ब्रह्मणामृणं प्राश्नानामस्ति सुन्वताम् ।

न सोमो अन्तापपे ॥ ऋ0 8,32,16

5. मनुस्मृति, 3.68-123

इसलिए वेदाध्ययन, पितृर्णन, होम, बलि तथा अतिथि सत्कार करना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है ।<sup>1</sup> ऋषि यज्ञ के द्वारा अनेक प्रकार की उपलब्धियाँ अर्जित करना था । इसके द्वारा वह धेत, धन, पुत्र, विजय तथा सुख इत्यादि प्राप्त करता था ।<sup>2</sup> एक मन्त्र में मनोवैज्ञानिक उपलब्धियों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि "जो व्यक्ति यज्ञ के द्वारा अग्नि का यजन करता है, जो शान्ति के द्वारा स्वयं को शान्त करता है तथा वरणीय पदार्थों को अग्नि को देता है उसे यज्ञ का भाव स्पर्श नहीं करता, पाप तथा दर्प स्पर्श नहीं करते ।"<sup>3</sup>

ऋषि की मान्यता है कि पाप की जड़े गहराई में होती हैं । उनका उन्मूलन सरल नहीं है । इस कठिन कार्य के हेतु वह देवा साहाय्य चाहता है । यह सहायता वह यज्ञ के माध्यम से प्राप्त करता है । यज्ञ के द्वारा उसे शान्ति तथा यज्ञ की प्राप्ति होती है । यज्ञिक को पाप एवं दर्प के कर्दम क्लेशित नहीं करते ।<sup>4</sup> यज्ञ अर्द्धकार विसर्जन का प्रमुख साधन है क्योंकि किसी देवता के नाम से तिल, घृत अथवा चावल आदि को "इदं अमुकदेवताये नमः" कहकर अग्नि में हवन करने से उसे वस्तु से ममत्व बुद्धि क्षीण हो जाती है ।

ऋग्वेद में मैत्री एवं भातृत्व को यज्ञ के आवश्यक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है<sup>5</sup> जिससे विश्व बन्धुत्व की भावना का प्रसारण होता है। अतः समाज में सामंजस्य उत्पन्न करने के लिए यज्ञ आवश्यक है ।

1. तैत्तिरीय संहिता, 6.3.10.5

2. ऋ0 1, 97, 2

3. ईज्यज्ञेभिः शशमे शमीभिर्ध्वजारायाग्नये ददाश ।  
एवा वन तं यज्ञसामजुषिर्त्ताहो मर्तं नशते न प्रदंष्टिः ॥ ऋ0 6, 3, 2

4. न त्मंहो न दूरितानि मर्त्यमिन्द्रावस्था न त्वः कुत्सव न ।  
यस्य देवा गच्छथो वीथो अहवर् न तं मर्तस्य नशते परिहवृत्तिः ॥ ऋ0 7, 82, 7

5. शिवा नः सुख्या सन्तु भ्रात्राग्ने देवेषु युष्मे ।  
सा नो नाभिः सदेने सस्मिन्नूधन् ॥ ऋ0 4, 10, 8

परन्तु जब यज्ञ में दिये गये दान को ही अपने जीवन का भोग समझने वाले पुरोहितों का प्रादुर्भाव हुआ तो एक वर्ष से लेकर जीवन पर्यन्त चलने वाले यज्ञ भी अस्तित्व में आए । 'सर्वमेध' यज्ञ इसका एक उदाहरण है । इस यज्ञ की आधि-भौतिक व्याख्या करके याज्ञिक का सर्वस्व दान कराया जाने लगा जिससे समाज में असंगोष व्याप्त हुआ एवं यज्ञ की तथा कथित महिमा को आघात लगा ।

परन्तु ऋग्वेद में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि "जो बड़े देवता है उन्हें मैं प्रणाम करता हूँ, जो छोटे हैं, जो युवक हैं, जो वृद्ध हैं उन्हें भी मैं प्रणाम करता हूँ । यदि हम समर्थ होंगे तो देवताओं के लिए यज्ञ करेंगे । हे देवताओं! जो देवताओं में बड़ा है उसकी प्रार्थनाओं को मैं न काटूँ ।"<sup>1</sup>

इस मन्त्र में ऋषि का कथन है कि वह यदि समर्थ होगा तभी यज्ञ करेगा। कुरआन का भी कथन है कि कुर्बानी {बलि} देना अनिवार्य है परन्तु उसके लिए जो सामर्थ्यवान् है । अतः यज्ञ का बलात् आरोपण अनुचित है । ऋग्वेद में स्तुति, समिधा तथा अन्न की बलि का भी गुणगान किया गया है ।<sup>2</sup> छान्दोग्य उपनिषद् ने नैतिक गुणों की बलि का उल्लेख किया है ।<sup>3</sup> श्री अरविन्द<sup>4</sup> के मत में यज्ञ में मनुष्य द्वारा भौतिक अथवा आध्यात्मिक किसी भी शक्ति का कोई भी कर्म द्रव्य है । यह द्रव्य शारीरिक अथवा मानसिक क्रिया के रूप में देवताओं, आत्मा, विश्व संवाक

1. नमो॑ म॒ह॒द्यो नमो॑ अ॒ग्नि के॒भ्यो नमो॑ यु॒व॒भ्यो नमो॑ आ॒ग्नि॒भ्यः ।

य॒ज्ञाम दे॒वान्यदि॑ श॒क्न्वा॒म मा॒ ज्याय॑सुः शंस॒मा वृ॑क्षि दे॒वाः ॥ ऋ० १, २७, १३

2. देखें, ऋ० ८, १९, ५, ८, २४, २०/६, १६, ४७

3. अथ यत् तपोदानं आर्जवं अहिंसा सत्यवचनं इतिता अस्य दक्षिणः ॥

छान्दोग्योपनिषद् , ३, १७, ४

4. श्री अरविन्द, गीता प्रबन्ध, पृ० १२६

शक्तिगो, मानव-जानि अथवा सर्वभूतों की अन्तरात्मा के लिए किया जा सकता है ।<sup>1</sup>

वैदिक काल में अग्नि की उपासना उसके बाह्य स्वरूप के आधार पर नहीं की जाती थी अपितु उसके दिव्य अथवा आन्तरिक पक्ष को ध्यान में रखकर की जाती थी । ऋषियों ने उसे आन्तरिक ज्योति के प्रतीक के रूप में देखा था । प्रकाश जीवन का मूल है । वैदिक धर्म मनुष्य का ज्योति द्वारा तत्त्वान्तरण था ।<sup>2</sup> यज्ञ की अग्नि वस्तुतः ब्रह्माग्नि अथवा ब्रह्म के प्रति गमनशील ऊर्जा, आन्तरिक अग्नि है जिसमें आहुति दी जाती है । यह आत्म-संयम अथवा विशुद्ध इन्द्रिय-क्रिया अथवा राजयोग तथा हठयोग में समान रूप से प्रयुक्त प्राणायाम साधन की प्राणशक्ति है ।<sup>3</sup>

ऋग्वेद उस यज्ञ की निन्दा करता है जो अदिव्य भावना तथा क्षुद्र कामनाओं के वशीभूत किया जाता है । इस प्रकार के व्यक्ति के भीतर सत्य एवं शुद्ध कर्म का अभाव होता है । वह केवल आत्मनुष्ठान का इच्छुक होता है तथा उसके जगत् का नियामक 'काम' होता है । वह काम अथवा अहंकार की उपासना करते हुए कार्यों को अनुचित रीति से करता है एवं अन्ततः देवत्व से वंचित रह जाता है ।<sup>4</sup>

1. तुलना करें - अल्लाह तक कुर्बानी का मांस, रक्त इत्यादि नहीं पहुँचता अपितु धर्मनिष्ठा पहुँचती है ॥ कुरआन, 22/37

तथा

न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृण्मये ।

भावे हि विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणम् ॥

वाणक्यनीति दर्पण, 8/12

2. डेविड फ्रॉले, हिम्ज़ फ्राम दी गोल्डेन एज, पृ० 7

3. श्री अरविन्द, गीता प्रबन्ध, पृ० 125

4. य ओहते रक्षसो देवीतावक्त्रेभिस्तं मरुतो नि यात ।

यो वः शमी शशमानस्य निन्दात्तच्छान्कामान्करतेसिष्वदानः ॥

ऋ० 5,42,10



गीता ने वेद के उपर्युक्त विचार की ही विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। उसके अनुसार कोई भी कर्म संकुचित अहंभाव से किया जा सकता है अथवा भगवान् के लिए किया जा सकता है। परन्तु जब तक मनुष्य अहंभाव के अधीन है तब तक वह परम सत्य को नहीं जान सकता तथा उसके द्वारा किया गया यज्ञ भी विपरीत भाव से ही सम्पन्न होता है।<sup>1</sup>

जिसके विचार तथा भावनाएँ उचित नहीं हैं उसके द्वारा किया गया धार्मिक कृत्य भी व्यर्थ हो जाता है। यज्ञ देवताओं तथा मनुष्यों के मध्य एक आन्तरिक कर्म का प्रतीक है।<sup>2</sup> यह आत्म-समर्पण अथवा अहंकार-शून्यता को प्रतीकायित करना है। देवताओं का अवतरण भी ऐसे ही चित्त में होता है।<sup>3</sup>

वैदिक यज्ञ प्रकाश का स्रोत है। यज्ञहीन व्यक्ति का आन्तरिक जगत् प्रकाश-शून्य हो जाता है।<sup>4</sup> ऋग्वेद में ऐसे व्यक्तियों की निन्दा की गयी है जो न तो स्वयं यज्ञ करते हैं और न ही किसी अन्य व्यक्ति को करने देते हैं। इस प्रकार के देवयज्ञ तथा नृयज्ञ की अवहेलना करने वाले व्यक्ति यदि देवताओं के ज्योतिस्वरूप यज्ञ को नष्ट करना चाहते हैं तो वे दण्डित होते हैं।<sup>5</sup>

ऋग्वेद में स्तुतिपरक तथा यज्ञ परक दोनों ही उपासना - प्रकारों का वर्णन है। जो दिव्यत्व के आकांक्षी हैं वे स्तुति करते हैं तथा जो ज्ञानवान् हैं वे

1. श्री अरविन्द, गीता प्रबन्ध, पृ० 117-18

2. श्री अरविन्द, वेद रहस्य §पूर्वार्द्ध§, पृ० 13

3. डा० राधाकृष्णन्, उपनिषदों की भूमिका, पृ० 50

4. मा नो वधेर्वरुण ये न इष्टावेनः कृण्वन्तेमसुर भ्रीणन्ति ।

मा ज्योतिषः प्रवस्थानि गन्म विषू मृधः शिश्रथो जीवसे नः ॥ ऋ० 2, 28, 7

5. ऋ० 6, 67, 9

यज्ञ करने हैं । परन्तु अज्ञानी इन दोनों की उपेक्षा करते हैं ।<sup>1</sup>

ऋग्वेद याज्ञिक की अक्षुण्ण स्थिति को स्पष्ट करने हुए कहता है कि "यज्ञ करने हुए जो देवताओं के मन की उपासना करना चाहता है उसे न कोई अपने कर्म द्वारा अभिभूत कर सकता है, न अपने स्थान से च्युत कर सकता है तथा न ही वह अपने परिवारादि से पृथक् होता है । जो यज्ञहीन है उनके ऊपर वह आधिपत्य प्राप्त कर लेता है ।"<sup>2</sup>

यहाँ देवताओं के मन की उपासना का उल्लेख किया गया है । वस्तुतः यह उपासना मूल केन्द्र पर केन्द्रित है, जो सबका आधार बिन्दु है ऋषि उसतत्त्व से परिचय का इच्छुक है । जो उस तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर लेता है वह जीवन में कभी विवर्लित नहीं होता<sup>3</sup> क्योंकि यज्ञ आन्तरिक शक्ति उत्पन्न करता है । अणुष्ठान के माध्यम से आकाश और पृथिवी, देव और मनुष्य तथा आत्मा और परमात्मा का सम्मिलन होना ही यज्ञ की सफलता है ।<sup>4</sup>

1. अभि वेना अ॒भूष॑ते॒यक्षन्ति॑ प्र॒वेत्सः॑ । म॒ज्जन्त्य॑वि॒वेत्सः॑ ॥ २० १, 64, 21

2. न॒क्षि॒ष्टं क॑र्म॒णा न॑श्न॒न् प्र यो॑ष॒न्न यो॑षति ।

दे॒वानां॑ य इ॒न्मनो॑ य॒जमान॑ इ॒यक्ष॑त्य॒भीद॑र्य॒ज्वनो॑ भू॒वन् ॥ २० ३, 31, 17

3. तू॒लना॑ करे - य॒ज्ञार्था॑त्क॒र्मणो॑ऽन्यत्र लो॒कोऽयं॑ क॒र्मब॑न्धनः ।

तदर्थं॑ क॒र्म कौ॑न्ते॒य मु॒क्त्स्वऽग॑ समा॒वर ॥ गी॒ता, ३/१

तथा

क॒र्म ब्र॑ह्मोद्भ॒वं वि॒दि ब्र॑ह्माक्षरसमुद्भ॒वम् ।

तस्मात्स॒र्वगतं॑ ब्र॒ह्म नि॒त्यं य॒ज्ञे प्र॑ति॒ष्ठितम्॑ ॥ वही, 15

4. शै॒ता मि॒त्रस्य॑ व॒रुण॑स्य॒ धाम॑ शु॒ष्मो रो॑द॒सी ब॒द्ध धे॑ महि॒त्वा

अ॒य॒न्मासा॑ अ॒य॒ज्वना॑म॒वीराः॑ प्र॒ य॒ज्ञम॑न्मा वृ॒जन् नि॑रा॒ते ॥ २० 7, 61, 4

यज्ञ के वास्तविक स्वरूप को प्रकट करते हुए कहा गया है कि "यह वेदी पृथिवी का अन्न है, यज्ञ संसार की नाभि है। सोम अन्न का वीर्य है, यह प्रजापति ही मन्त्र का उत्कृष्ट स्थान है।<sup>1</sup> इस मन्त्र में यज्ञ का असीम प्रसारण किया गया है। इसमें ब्रह्माण्ड को अन्तर्लून किया गया है, क्योंकि समूचे ब्रह्माण्ड का प्रादुर्भाव यज्ञ से हुआ था।<sup>2</sup> अतः जहाँ-जहाँ ब्रह्माण्ड है वहाँ-वहाँ यज्ञ भी विद्यमान है। इस आधार पर यज्ञ को ब्रह्माण्ड का 'लिंग' भी कहा जा सकता है।<sup>3</sup> इस यज्ञ रूपी लिंग में समस्त देवता विद्यमान है।<sup>4</sup> यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है, कर्म ब्रह्म से, ब्रह्म अक्षर से। अतः सर्वगत-ब्रह्म यज्ञ में प्रतिष्ठित है।<sup>5</sup>

निष्कर्ष  
-----

ऋग्वेद में भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार की सिद्धियों के लिए कर्म को सर्वोच्च साधन माना गया है। कर्म-भावनाप्रत्येक व्यक्ति तथा समस्त मानव-समाज को कर्तव्यनिष्ठ होने तथा दायित्व वहन करने की ओर प्रवृत्त करती है। परवर्ती साहित्य, विशेष रूप से गीता तथा जैन एवं बौद्ध दर्शनों में कर्म की विशद व्याख्या तथा उसका महत्त्व स्वीकार करने का आधार वेदोक्त कर्म भावना ही है।<sup>6</sup>

1. इयं वेदिः परो अन्नः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः ।

अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेनो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥ ऋ0 1, 164, 35

2. ऋ0 10/90

3. लीनम् अत्यक्षं अर्थं गमयति इति लिंगम् ।

4. आ नासत्या त्रिभिरेकादशैरिह देवेभिर्यातं मधुपेयमश्विना ॥ ऋ0 1, 34, 11

5. श्री अरविन्द, गीता प्रबन्ध, पृ0 122

6. वाचस्पति गैरोला, वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ0 319

ऋग्वेद में शतायुष एवं सुखमय जीवन की प्राप्ति के लिए उत्कट आकांक्षा व्यक्त की गयी है । परन्तु इसके लिए वेदोक्त कर्मों का पालन आवश्यक बनाया गया है । अतः कर्म करना अनिवार्य है परन्तु उसके बाह्य परिणामों के लिए नहीं अपितु आन्तरिक विकास के लिए । काण्ट का भी यह विचार है कि कर्म जो शुभत्व दृष्टिगोचर होता है वह मानसिक भावना अथवा मनोवृत्ति में निहित रहता है ।<sup>1</sup>

ऋग्वेद में विविक्त कर्म-सिद्धान्तों के आधार पर कहा जा सकता है कि कर्म तीन प्रकार के होते हैं । एक वह जो यज्ञ के बिना वैयक्तिक सुख-भोग के हेतु किया जाता है । यह स्वार्थ एवं अहंकार से युक्त होता है तथा जीवन की वास्तविकता एवं उपयोगिता से वंचित रहता है । दूसरा वह है जो यज्ञ के द्वारा सम्पन्न तो होता है परन्तु उसमें फलाकांक्षा निहित होती है । तीसरा कर्म वह है जिसमें कोई कामना अथवा आसक्ति नहीं होती । अंतिम कर्म ही गीता को मान्य है ।<sup>2</sup>

वैदिक कर्म सिद्धान्त का फलक अति विस्तृत है । यह समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपादेय है । इसके नियम समाज के विरोध में न होकर उसके सहयोगी हैं । जिसे संसार की इच्छा है वह भी वेदोक्त कर्म सिद्धान्त का पालन करके इच्छा-पूर्ति कर सकता है एवं जो देवत्व अथवा ब्रह्मत्व को प्राप्त करना चाहता है उसके लिए भी यहाँ सुगमता है ।

1. डा० छाया राय, काण्ट का नीति दर्शन, पृ० 42

2. दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञैवोपजुह्वति ॥ गीता, 4/25

ऋग्वेद की मान्यता है कि कर्म तो करना ही है ।<sup>1</sup> परन्तु नैतिक-कर्म नीति को तथा औत्तिक-कर्म नीति को जन्म देते हैं । मनुष्य को उसके कर्मों का ही फल प्राप्त होता है । कर्म की दृष्टि से मनुष्य स्वतन्त्र है परन्तु फल की दृष्टि से परतन्त्र । यदि वह वेदोक्त रीति से कर्म करेगा तो उसे पाप स्पर्श नहीं करेगा । परन्तु उसके विपरीत जो आवरण करेगा वह दण्डित होगा ।<sup>2</sup>

मनुष्यों के ऊपर कर्त्तव्य ऋण है, जिनसे उद्धार होना उसका कर्त्तव्य है एवं कर्त्तव्य से पलायन दण्डनीय अपराध ।

संसार अन्तः का प्रक्षेपण है । अतः जो जैसा कर्म करेगा उसे उसका वैसा ही परिणाम प्राप्त होगा । इस जगत् में मनुष्य उन्हीं वस्तुओं को प्रत्या-वर्त्तन में प्राप्त करता है जिन्हें वह कर्म द्वारा प्रेषित करता है । अशब्द बोलने वाले को गीत नहीं सुनाई देंगे । यही कारण है कि एक ही अग्नि है जो पापियों को तो दग्ध करती है परन्तु पुण्यकर्त्ता को आनन्दित ।<sup>3</sup> ऋग्वेद की मान्यता है कि कभी-कभी ऐसा भी होता है कि अन्यकृत दुष्कर्मों का फल किसी अन्य व्यक्ति को भोगना पड़ता है । इस प्रकार के परिणाम नैतिक तथा औत्तिक दोनों ही क्षेत्रों में दृष्टिगत होते हैं । कर्म अपने प्रभाव परिपार्श्व के अतिरिक्त आगामी सन्तति पर भी डालते हैं । हदीस में भी कहा गया है कि एक अधार्मिक एवं दुष्ट व्यक्ति

1. "तुम कर्म करो " । कुरआन, अत - लोबा , 105

2. सुनीतिभिर्नयसि त्रायसे जनुं यस्तुभ्यं दाशान्न त्मं हो अन्नवत् ।

ब्रह्मद्विषस्त्वनो मन्युमीरसि बृहस्पते महि तत्ते महित्वनम् ॥ ऋ0 2,23,4

3. क्रीकन्नो रश्म आ भुवः सं भस्मेना वायुना देविदानः

ता अस्य सन्धुषजो न त्रिगमः सुसंशिता वक्ष्यो वक्षिस्था : ॥ ऋ0 5,19,5

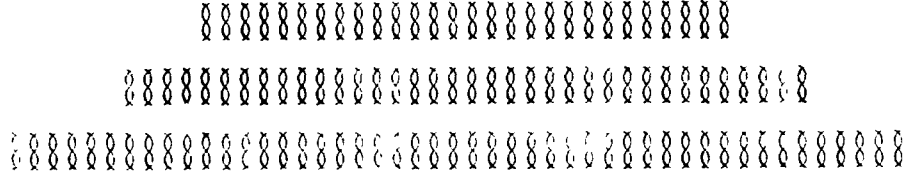
की आशु छाया ~~यज्ञो~~स घरों पर पड़ती है अर्थात् व्यक्ति अपने आचरण के द्वारा समाज को प्रभावित करता है । ऋग्वेद का ऐसी परिस्थिति में प्रस्ताव है कि व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह नैतिक आचरण करके अपना तथा समाज एवं संसार के कल्याण में योगदान करें ।<sup>1</sup>

=0=

---

1. "उत्तम कर्म करने से ही उत्तम व्यक्तित्व का निर्माण होता है ।"

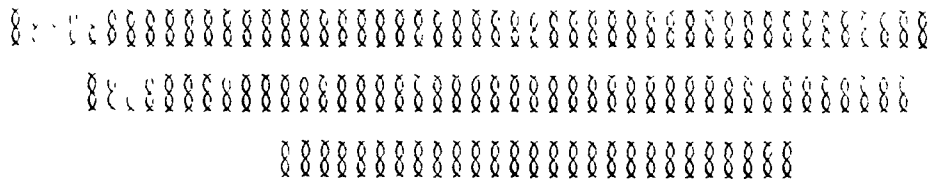
कुरआन, मरयम, 96



पंचम अध्याय  
=====

नैतिकता के दिव्य आदर्श

- 5.1. दान
- 5.2. निन्दा, कृपणता तथा अहंकार
- 5.3. मधुर वचन
- 5.4. व्याज
- 5.5. शृण
- 5.6. उपचार
- 5.7. सृष्टि
- 5.8. संरक्षा
- 5.9. अभिवार
- 5.10. नीति स्थापना
- 5.11. साम्य दृष्टि



पंचम अध्याय  
=====

नैतिकता के दिव्य आदर्श  
=====

ऋत्म्पयी अदिन्ति के पुत्र देवता ऋत के रक्षक एवं निर्धृति के हन्ता है। देवत्व के कारण उनके स्थान विशेष निश्चित है तथापि अभिभावक के रूप में मनुष्यों का पालन-पोषण करने वे धरती पर भी अवतरित होते हैं।<sup>1</sup> वे स्वामी बनकर मनुष्यों को दास बनाना नहीं चाहते प्रत्युत दासता के स्तर से उठाकर देवत्व के शिखर पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं।

ऋग्वेद में इन्द्र को 'मानुष'<sup>2</sup> कहकर सम्बोधित किया गया है जिससे प्रकट होता है कि मानवीय गुण देवगुणों से हीन नहीं हैं। मनुष्य अपनी वास्तविकता के स्तर, पर पहुँचकर देवता से अभिन्न हो जाता है, जैसा कि ऋभुओं के चरित्र से स्पष्ट है। ऋग्वेद द्वारा निर्दिष्ट नैतिक कर्म ही ऐसा साधन है जिसके द्वारा देवत्व तक आरोहण किया जा सकता है। ऋषि का विचार है कि स्वर्ग को पृथिवी पर उतारा जा सकता है, केवल आवश्यकता है उतारने वाले की।

-----  
1. स न॑ पि॒त्वे॑ सू॒नवेऽग्ने॑ सूपा॒य॒नो भ॑व । स॒व॒स्वा नः॑ स्व॒स्त्ये॑ ॥

ऋ0 1, 1, 9

2. ऋ0 1, 84, 20



कोई भी धर्म तब तक अस्तित्व में नहीं आता जब तक उसका कोई प्रवर्तक नहीं होता तथा कोई भी नियम तब तक प्रचलित नहीं होता जब तक उसका कोई आदर्श रूप न प्रस्तुत किया जाय । वैदिक देवता किसी भी नैतिक नियम को मनुष्यों पर बलात् आरोपित नहीं करते । वे सर्व प्रथम स्वयं उन नियमों पर चलकर आदर्श प्रस्तुत करते हैं तदुपरान्त मनुष्यों को प्रेरित करते हैं कि वे भी प्रणीत मार्ग पर चलें ।

5.1.0. दान

ऋग्वेद के प्रमुख देवता इन्द्र अपनी दानशीलता के कारण 'मघवन्' तथा 'दानोक्स' कहलाए ।<sup>1</sup> उनकी दान शक्ति सहस्रों का दान करने वाली है। उनका दान अलौकिक होता है अर्थात् वह ऐसी वस्तुओं को देते हैं जो कभी किसी को प्राप्त नहीं होती क्योंकि उनकी सुमति अधिक कल्याणकारी तथा धृति की ओर चलने वाली है ।<sup>2</sup> धृति पक्वता का द्योतक है । अतः इन्द्र में शक्ति के साथ ही पक्वता भी है । इस प्रकार इन्द्र ऐसे सदाचारी हैं जिनमें उदारता के साथ पक्वता भी निहित है ।

एक मन्त्र में सुन्दर रूपक द्वारा इन्द्र की दानशीलता का वर्णन करते हुए कहा गया है - "जो पक्षी लाल, शक्तिशाली, स्वर्ण पंखों वाला तथा प्राचीन काल से नीड-विहीन है वह अपनी शक्ति द्वारा जो कुछ जानता है नितान्त सत्य है । अतः वह जिस स्पृहणीय धन को विजित करना है तथा दान करता है वह कभी निरर्थक नहीं होता ।"<sup>3</sup> यहाँ स्पष्टतया कहा गया है कि यदि विचार सत्य होगा तो आचरण भी सत्य होगा । सत्य पर आधारित आचरण द्वारा अर्जित धन स्थिर होता है, उसमें स्थायित्व होता है ।

1. ऋग्वेद, 1, 61, 5  
1. यस्मै धायुरदधा मर्त्यायाभक्तं चिद्भजते गेह्यं सः ।

भद्रा तं इन्द्रं सुमर्तिर्धृतावी सहस्रदाना पूरुहूत रातिः ॥ ३0 3, 30, 7

3. शक्मना शान्ते ऋणः सुपर्ण आ यो महः शूरः स्नादनीकः ।

यच्चिकेत सत्यमित्तन्न मोघं वसु स्पार्हमुत जेतोत दाता ॥ ३0 10, 55, 6

इन्द्र लोभी तथा दुष्टों के धन को छीनकर कर्मशील उपासकों में वितरित कर देते हैं ।<sup>1</sup> क्योंकि वास्तविक धन वही है जो दूसरों के उपभोग में आए।<sup>2</sup>

देवता दर्पहीन चेतना से दान करते हैं इस विचार को एक मन्त्र में इस प्रकार वर्णित किया गया है—“हे देवताओं में प्रथम मित्र-वरुण! तुम्हारे उपासक यज्ञ और गाय से निर्मित भोज्य-पदार्थ के द्वारा तुम्हारी उपासना करते हैं, तुम शून्य से युक्त हो वैसे ही जैसे मन के प्रयोगों में होता है । तुम दोनों के लिए एकचित्त तथा स्थिर मन से मन्त्रों का उच्चारण करते हैं एवं तुम लोग दर्पहीन मन के द्वारा उनके जीवन को सम्पन्नता के साथ व्याप्त करते हो ।”<sup>3</sup> यहाँ बताया जा रहा है कि उपासना के लिए चित्त की एकाग्रता आवश्यक है । दान का भाव यदि अन्तस् से नहीं आता तो वह दान बलात् ही होगा तथा उस आरोपित नियम को स्वीकार करने वाला चित्त अज्ञान्त । अज्ञान्त चित्त से दिया गया दान दुःख उत्पन्न करता है । देवता भी अपने भक्तों को देते हैं परन्तु दर्पहीन मन से । अतः दाता में दर्प हीनता आवश्यक है ।<sup>4</sup>

देव-भिषज् अश्विनी कुमारों के दान से सम्बन्धित ऋग्वेद में अनेक मन्त्र हैं । वे दान में धन, स्त्री, नेत्र, कर्ण इत्यादि प्रदान करते हैं।<sup>5</sup>

इसी भाँति अग्निदेव भी महान् दाता है । वे धन, पुत्र, रत्न तथा अन्नादि दान में देते हैं ।<sup>6</sup> उनके दानी स्वभाव का उदाहरण इस मन्त्र में देखा जा सकता है—“हे अग्नि ! तुम बहुनों के प्रिय हो । यजमानों को धन देने के लिए उनके

1. ऋ0 1, 103, 6/8, 92, 9

2. स विभवो मनुष्याणां यः परोपभोग्यः ॥ सोमदेवसूरि, नीतिवाक्यामृतम् ॥ 11/52

3. युवां युज्ञेः प्रथमा गोभिरञ्जत श्रुतावाना मनसो न प्रयुक्त्विषु ।

भरान्ति वां मन्मना स्थिता गिरोऽदृष्यता मनसा रेवदाशाये ॥ ऋ0 1, 151, 8

4. “यावत्, अनाथ तथा बन्धकों, को भोजन निःस्वार्थ भाव से कराना चाहिए, प्रतिकार की भावना से नहीं” कुरआन, अद-दहर, 8-9

तथा  
स दाता महान् यस्य नास्ति प्रत्याशोपहतं वेतः ॥ नीतिवाक्यामृतम्, 17/9

5. ऋ0 1, 117, 8

6. ऋ0 1, 1, 1 / 1, 12, 11

घरों में जाते हो । इस अग्नि को प्राप्तः सवन में प्रज्वलित किया जाता है ।

अमरत्व गुण वाले अग्नि यजमानों में प्रतिष्ठित होकर हवि की कामना करते हैं ।<sup>1</sup> अग्नि की उदारता को इस मन्त्र में देखा जा सकता है कि वह दान देने स्तोता के घर स्वयं जाते हैं । वस्तुतः देवताओं का अवतरण वहीं होता है जहाँ ग्राह्यता हो । अतः जो पुण्यकर्त्ता है उसके घर देवता स्वयं अपने कल्याणकारी साधनों सहित पहुँच जाते हैं ।

परन्तु ऐत्तिक व्यक्ति भी यदि देवोपासना करता है तो देवता क्षमाशील होने के कारण उसके प्रति कल्याण-भावना रखते हैं । अधम मनुष्य भी यदि उनकी स्तुति करे तो वे उसे शरण देते हैं । इससे प्रतीत होता है कि पापी व्यक्ति भी अपने पापों से मुक्ति प्राप्त कर सकता है । इसके लिए उसे देवताओं के समक्ष अपने दुर्गुणों का त्याग करना आवश्यक है ।<sup>2</sup>

देवता किस प्रकार का दान करते हैं यह निम्नलिखित मन्त्र में द्रष्टव्य है—

“वे दोनों देवता हमको पार्थिव तथा दिव्य दोनों प्रकार का महान् धन प्रदान करने वाले हैं । हे मित्रावरुण ! तुम दोनों अधिक प्रशंसित बल वाले हो एवं देवताओं में प्रसिद्ध हो ।”<sup>3</sup>

1. प्रा॒तर॒ग्निः पु॒रु॒प्रि॒यो वि॒शः स्त्वे॒ता॒ति॒थिः ।

वि॒श्वानि॒ यो अ॒म॒र्त्यो ह॒व्या म॒र्तेषु॒ रण्य॑ति ॥ ऋ० 5, 18, 1

2. मि॒त्रो अ॒हो॒रि॒च॒दादु॒रु क्ष्या॑य गा॒तुं व॑नते ।

मि॒त्रस्य॑ हि प्र॒तूर्व॑तः सु॒म॒तिर॑स्ति वि॒ध॒तः ॥ ऋ० 5, 65, 4

3. ता नः॑ श॒क्तं पा॒र॒थि॒वस्य॑ म॒हो रा॒यो दि॒व्यस्य॑ ।

म॒हि वां क्ष॑त्र दे॒वेषु॑ ॥ ऋ० 5, 68, 3

देवता मनुष्यों को पार्थिक तथा दैविक अथवा आध्यात्मिक सम्पत्ति प्रदान करते हैं। देवता चाहते हैं कि मनुष्य संसार से विमुक्त न हो तथा वह पारलौकिक जीवन की चिन्ता भी करे। प्रत्येक देश की मुद्रा भिन्न होती है। अतः संसार का धन परलोक में मान्य नहीं हो सकता। इस लिए देवता उस धन को भी प्रदान करते हैं जो उच्चकोटि का तथा स्थायी स्वरूप वाला है एवं जो देश काल के परे भी अपना महत्त्व बनाये रखता है। परन्तु उनका यह दान केवल उन्हें ही प्राप्त होता है जो पाप तथा द्रोह से रिकत होते हैं।<sup>1</sup>

महावीर इन्द्र अपने शौर्य एवं पराक्रम का पूर्णतः उपयोग करते हैं। फलतः वे सदैव युद्ध में संलग्न रहते हैं। परन्तु ये युद्ध अज्ञान, असत्य तथा बुराई के विरुद्ध हैं। इन युद्धों से प्राप्त धन को इन्द्र कभी भी अपने पास नहीं रखते।<sup>2</sup> वह युद्ध द्वारा समाज में व्यवस्था लाते हैं तथा धन-दान से आर्थिक सुदृढ़ता।

#### 5.2. निन्दा, कृपणता तथा अहंकार

वैदिक काल में निन्दा को हेय समझा जाता था। तत्कालीन समाज प्रेम एवं बन्धुत्व की भावना पर आधारित था। उसमें निन्दा जैसी दुर्वृत्ति के लिए कोई स्थान नहीं था।

1. त्वं नः सोम सुकृन्व्योद्येयाय जाग्रहि ।

क्षेत्रवित्तरौ मनुषौ वि वो मदे द्रुहो नः पाह्यं ह सो विवेक्ष से ॥

ऋ0 10, 25, 8

2. त्वं जिगेथ न धना हरौ धिथार्भेष्वजा मध्वन्महत्सु च ।

त्वामुग्रमक्से सं शिंशीमस्यथा न इन्द्र हवनेषु वोदय ॥

ऋ0 1, 102, 10

ऋग्वेद निन्दा तथा अन्धकार को एक ही श्रेणी का मानता है।<sup>1</sup> अहंकार को जब आघात पहुँचता है तो उससे निन्दा का जन्म होता है। जो व्यक्ति स्वयं जीवन-पथ पर सही ढंग से नहीं चल पाता वह उन पर पत्थर पेंकता है जो उस पर दौड़ते हैं।<sup>2</sup> यह चित्त की रुग्ण दशा है। अहंकार अपने आप में अज्ञान स्वरूप है। अतः इससे उत्पन्न निन्दा अज्ञान का विकृत रूप है। अज्ञान को अन्धकार से प्रतीकायित किया जाता है। अतः ऋषि का विचार तर्कसम्मत है कि निन्दा एवं अन्धकार सदृश हैं।

देवता ज्योति स्वरूप होने के कारण अन्धकार को नष्ट करते हैं। यह अन्धकार यदि निन्दा के रूप में भी हो तब भी वे उसे समाप्त कर देते हैं।<sup>3</sup>

ऋषि निन्दा के सन्दर्भ में कहता है "हे मरुद्गण! तुम्हारी महिमा अपार है, बढ़ी हुई शक्ति तथा दीप्ति हमारी रक्षा करे, दर्शन के लिए यज्ञ में तुम लोग स्थित होते हो, निन्दा अथवा निन्दकों से तुम हमारी रक्षा सुगम गती हुई अग्नियों की भाँति करो।"<sup>4</sup> इस मन्त्र में भी निन्दा को अन्धकार के सदृश बताया गया है। जिस प्रकार अन्धकार को प्रज्वलित अग्नि दूर करती है, उसी प्रकार देवता निन्दा को।<sup>5</sup>

1. इन्द्रो॑सोमा॑ महि॑ तद्वा॑ महि॑त्वं यु॒वं मु॒हानि॑ प्रथ॒मानि॑ व॒क्रथुः॑ ।

यु॒वं सूर्य॑ वि॒विदथ्यु॑वं स्व॒ ३ वि॒श्वा त्मा॑स्य॒हन् नि॒दश्च॑ ॥ ऋ0 6, 72, 1

2. दह्य॑मानाः सु॒तीव्रेण॑ नी॒वाः पर॑यशोऽग्नि॒नता॑ ।

आ॒कृता॑स्त्व॒त्पदं॑ गन्तुं॒ ततो॑ नि॒न्दां प्र॒कुर्वते॑ ॥ वाण॑क्यनीति॒ दर्पण॑, 13/10

3. स मु॒न्युं म॒र्त्याना॑म॒दब्धो॑ नि चि॒कीषते॑ । पू॒रा नि॒दश्चि॑कीषते ॥ ऋ0 8, 73, 6

4. अ॒मारो॑ वो॒ महि॑मा वृ॒द्ध श॒वस॑स्त्वेष॒ शवो॑ऽव॒त्वेव्याम॑रुत् ।

स्था॒नारो॑ हि प्र॒सितो॑ स॒दृशि॑ स्थन् ते न॑ उरु॒ष्यता॑ नि॒दः ॥ ऋ0 5, 87, 6

5. तुजना करे "किसी की छिल्ली उड़ाना, ऐक लगाना, बुरे नाम रखना, पीठ पीछे बुरा कहना अर्माचरण है।" कुरआन, 49/11-12

ऋग्वेद के अनुसार कृपणता भी निन्दा ही के समान एक अङ्गुण है । निन्दक की भाँति कृपण भी व्यक्ति और समाज का अहित करता है । निन्दा वैयक्तिक पाप है तथा कृपणता मानसिक । देवता इन दोनों पापों का निराकरण करते हैं ।<sup>1</sup>

जो दाता होकर भी ईर्ष्या करता है अथवा जो धनी होकर भी दान नहीं देता उसके धन को इन्द्र अपहृत कर लेते हैं ।<sup>2</sup> सामाजिक तथा पारिवारिक उत्तरदायित्व का निर्वाह करना वैदिक ऋषियों का कर्त्तव्य था। यदि वे इस कर्त्तव्य से च्युत होते थे तो उन्हें दण्डित भी होना पड़ता था ।

एक मन्त्र में कहा गया है - "जो दाता है वही धन का वहनकर सकता है , कृपण नहीं । जो ज्ञानी है वही तर्क-वितर्क कर सकता है, अज्ञानी नहीं । जो सोम रस निकाल कर नहीं देता उसे इन्द्र समाप्त कर देते हैं ।"<sup>3</sup> यहाँ सोम-रस का देना उदारता का प्रतीक माना जा सकता है । अतः जो उदार नहीं अर्थात् कृपण है उसको भौतिक सम्पत्ति के साथ ही आध्यात्मिक सम्पत्ति से भी वंचित होना पड़ता है । यह मन्त्र अरिग्राह का आदेश देता है । इसी विचार को बुद्ध तथा मार्क्स ने विस्तृत रूप दिया है । प्रेम तथा त्याग में योगपथ है । अहंकारी त्याग नहीं कर सकता क्योंकि उसके निकट दान का अर्थ है सम्पत्ति का कम होना । ऐसे लोभी<sup>4</sup> व्यक्ति का जीवन संकुचित होकर देवताओं के द्वारा समाप्त कर दिया जाता है ।

1. रक्षा सु नो अरुषः स्वनात्समस्य कस्यचित् ।

निदो यत्र मुमुक्षहे ॥ ऋ0 9,29,5

2. ऋ0 8,45,15

3. अस्मन्वन्तं समं दूणाञ्च यो न ते मयः ।

अस्मभ्यमस्य वेदेनं दद्वि सूरिश्चिदोहते ॥ ऋ0 1,176,4

4. दानार्हेषु स्वधनाप्रदानं परधनग्रहणं वा लोभः ॥ नीत्तिवाक्यामृतम् 4/4

एक मन्त्र से प्रतीत होता है कि देवताओं के समीप कृपणता तथा दुष्टता अभिन्न है। वहाँ कहा गया है कि "जल को प्रेरित करने वाले ये सोम इन्द्र को वृद्धि प्रदान करते हुए तथा सध्वो आर्य बनाते हुए गमन करते हैं। ये कृपणता को दूर करते हैं।"<sup>1</sup> ऋषि का तात्पर्य है कि अनार्य में कृपणता एवं दुष्टता होती है जबकि आर्य सरल चित्त होता है। अतः आर्य होना चरित्र की नैतिकता को प्रकट करता है तथा अनार्य अनैतिकता को। सोम इन दोनों प्रकार की नैतिकताओं को समाप्त करके नीति की स्थापना करते हैं। देवताओं का देवत्व इसी बात में निहित है कि वे अनैतिकता को केवल समाप्त नहीं करते अपितु नैतिकता की वृद्धि भी करते हैं।

जब मनुष्य में अहंकार प्रवल हो जाता है तो उसकी विवेक-शक्ति क्षीण हो जाती है। नीति-अनीति के मध्य वह अन्तर नहीं कर पाता। इस प्रकार के लोगों के विषय में ऋषि कहता है - "हे बृहस्पति! जो अहंकारी हमारे समीप आकर हम अपराधहीनों का वध करना चाहे उसे तू उत्तम मार्ग से हटाकर यज्ञ के निमित्त हमारा मार्ग सुगम करो।"<sup>2</sup> वैदिक ऋषि निष्पाप है। अतः इस प्रकार के व्यक्ति के मार्ग में बाधा उत्पन्न करने वाला पापी हुआ। देवता इस प्रकार के पापियों को समाप्त करके यज्ञ के लिए सुगमता प्रदान करते हैं।

निन्दा तथा कृपणता का मूल कारण अहंकार है। अहंकारी यज्ञ नहीं कर सता, क्योंकि यज्ञ उदारता, श्रुता, तथा अहंकार - मुक्तता का नाम है। अतः वह यह भी नहीं चाहता कि कोई अन्य यज्ञ करे। उसका अहंकार यज्ञ से अर्जित अन्य की श्रद्धा से हताहत होकर निन्दा एवं हिंसा के तत् पर अवतरित हो जाता है। ऐसे व्यक्तियों का देवताओं द्वारा दण्डित होना न्याय-संगत है।

1. इन्द्रं वर्धन्तो अर्पुः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् । अमृधन्तो अरावणः ॥

४०१, ६३, ५

2. उ॒त॒ त्वा॒ यो नो॑ म॒र्यादा॑ना॒गसोऽरा॑नी॒वा म॑र्तः॒ सानु॑को वृ॒कः ।

बृहस्पते॒ अ॒ तं वर्त्त॑या प॒थः सु॒गं नो॑ अ॒स्यै दे॒ववी॑त्ये कृ॒धि ॥ ४०२, २३, ७

### 5.3. मधुर वचन

नीति का उद्देश्य दुःखों से रक्षा करना है । यदि कोई कर्कश एवं कठोर शब्दों का प्रयोग करता है तो वह सामाजिक अथवा वैधानिक दृष्टि-कोण से विशेष अपराधी नहीं परन्तु नैतिक दृष्टि से वह महान् अपराधी होगा क्योंकि नीति में विचार से व्यवहार तक की सभी बातों पर ध्यान दिया जाता है । ऋग्वेद ऐसे लोगों को गर्हित समझता है ।<sup>1</sup>

वैदिक नीति शारीरिक दुःखों के साथ ही मानसिक दुःखों का भी ध्यान रखती है । शारीरिक कष्ट तो दूर हो जाते हैं परन्तु आन्तरिक आघात समस्त व्यक्तित्व को आलोडित-क्लोडित सा कर देता है तथा अन्तस् का यह व्रण बाह्यावरण को भी परिवर्तित कर सकता है । अतः ऐसे परुष वाणी बोलने वालों को इन्द्र दण्डित करके मधुर वचन के महत्त्व को सूचित करते हैं ।<sup>2</sup>

एक मन्त्र में ऋषि कहता है "हे अग्नि ! अपने घातक शस्त्रों के द्वारा उन्हें दूर भगाओ जो अनुचित बातें बोलने वाले, दुर्बुद्धि, {तथा} क्षति पहुँचाने वाले हैं । वे चाहे निकट हों अथवा दूर । जो तुम्हारी स्तुति करता है उस स्तोता के मार्ग को सरल, बनाओ, तुम्हारी मित्रता में आकर हम किसी प्रकार नष्ट न हों ।"<sup>3</sup>

ऋग्वेद में मानसिक तथा वाचिक नैतिकता पर भी बल दिया गया है । अतः जो मानसिक अथवा वाचिक पाप करता है उसे देवता दण्डित करते हैं।

1. ऋ0 7,94,7

2. एष स्तोम इन्द्र तुभ्यमस्मे एतेन गातुं हरिवो विदोनः ।

आ नो ववृत्याः सुविताय देवः विद्यामेष वृज्जन्जीरदानुम् ॥ ऋ01,173,13

3. वधैर्दुःशसां अप दुदयो जहि दूरे वा ये अन्ति वा के चिद्विणः ।

अथा यज्ञाय गृणते तुगं कृध्यग्ने सख्ये मा रिषामा व्यं त्व ॥ ऋ0 1,94,9



देवत्व को प्राप्त करने के लिए समस्त ऐत्तिकताओं का विवर्जन आवश्यक है । कहा भी गया है कि सभी जीव मीठे वक्नों से सन्तुष्ट होते हैं, इसलिए प्रिय वक्न बोलना चाहिए, वक्न में क्या दरिद्रता है ।<sup>1</sup>

#### 5.4. व्याज

वैदिक काल में व्यापार आरम्भ हो चुका था । व्यापारी अनेक मार्गों से धन अर्जित करते थे । उनमें एक मार्ग 'व्याज' का भी था । सामान्य-तथा यह धारणा है कि 'व्याज' का आरम्भ हिन्दू धर्म से हुआ है । परन्तु उक्त धारणा को खण्डित करने वाला निम्नलिखित मन्त्र द्रष्टव्य है - "हे इन्द्र ! कीकट देश में लोग क्या करते हैं ? वे न तो गाधों से दूध दुहते हैं और न ही उसे गरम करते हैं । जो व्याज पर रूप देते हैं उनकी सम्पत्ति हमें प्रदान कराओ । वे नीचे लटकती हुई शाखा वाले हैं अथवा उन्हें तुम शाखा की भाँति नीचे झुका दो जिससे हम फल की भाँति उनकी सम्पत्ति ले सकें ।"<sup>2</sup> सूद पर रूपया देने वाले को इन्द्र छिन्न-भिन्न कर देते हैं, क्योंकि वे नीचता का कर्म करता है । सूद एक प्रकार का सामाजिक शोषण है ।<sup>3</sup> अतः देवता समाज में व्याप्त असामाजिक प्रवृत्तियों को समाप्त करते हैं ।

#### 5.5. शृण

वैदिक नीति संसार को सम्पुंजित करके देखती है । दानादि के रूप में निर्दिष्ट उसकी नैतिकता मनुष्यों के मध्य सामंजस्य तथा प्रेम की स्थापना

1. प्रिय वाक्य प्रदानेन सर्वे तृष्यन्ति जन्तवः ।

तस्मात्तदेव वक्नव्यं वक्ने का दरिद्रता ॥ वाणक्य नीति दर्पण ॥ 6/17

2. किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरदुहनेन तृष्यन्ति धर्मम् ।

आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैवाशाखं मघवनरन्धया नः ॥ २0 3, 53, 14

3. तुलना करे- "व्यापार हलाल है परन्तु व्याज हराम" । कुरआन, 2/275

करती है। देवताओं को मनुष्यों का हितप्रिय है। उन्होंने समाज में किस प्रकार आवरण करना चाहिए, इसका प्रारूप प्रस्तुत किया है, जो काल की दृष्टि से चाहे पुरातन हो चुका हो किन्तु उपादेयता की दृष्टि से अद्यापि नवीन जैसा है।

ऋण का प्रचलन प्राचीन समय से बला आ रहा है। सहायता की दृष्टि से दिया गया ऋण उत्तम है किन्तु व्याज के विचार से दिया गया ऋण पाप है। अतः इसमें लाभ-हानि दोनों ही निहित हैं। प्राचीन काल में ऋण पर ब्राह्मण से दोषण प्रति सैकड़ा, क्षत्रिय से तीन पण प्रति सैकड़ा, वैश्य से चार पण प्रति सैकड़ा तथा शूद्र से छः पण प्रति सैकड़ा व्याज लिया जाता था।<sup>1</sup> अतः प्रकट है कि व्यक्ति ऋणों के भार से अक्रियता की स्थिति में पहुँच जाता होगा। इसका अनुमान इस मन्त्र से किया जा सकता है - "दस्युओं को मारने का कार्य जो इसने किये हैं वे जाने जाते हैं, शक्तिशाली सोम ऋण से मुक्त करने हैं।"<sup>2</sup> इस मन्त्र में दस्यु तथा ऋण का एक साथ उल्लेख किया गया है। ऋषि के कहने का आशय यह है कि सोम ने दस्युओं को मारा, इस बात से सभी परिचित हैं, यदि सोम धन को बलात् अहृत करने वाले का वध कर सकते हैं तो फिर ऋणों को समाप्त क्यों नहीं कर सकते? अर्थात् अवश्य कर सकते हैं, क्योंकि ऋण भी दस्यु जैसा ही होता है। यह अन्याय पूर्ण नीति के धन संवित करने का एक औत्किक साधन है। देवता औत्किकता को समाप्त करने के लिए कटिबद्ध हैं, अतः वे व्यक्ति को ऋण से मुक्ति दिलाने हैं।

एक अन्य ऋचा में कहा गया है - "हे वरुण ! ऋणों को दूर भगा दो, मेरे द्वारा जो ऋण लिए गए हैं उनसे उद्धार करो, दूसरे के द्वारा अर्जित

1. दीनानाथ सिद्धान्तालंकार, प्राचीन भारत की नीतियाँ, पृ० 54

2. कृतानीदस्यु कर्त्वा वेतन्ते दस्युर्हणा ।

ऋणा च धृष्णुश्चये ॥ ऋ० १.47.2

भोजन अथवा धन का मैं भोग न करूँ । बहुत सी उषाएँ जो अभी चमकी नहीं हैं उनमें हम जीवन-सम्पन्न रहें ।<sup>1</sup> इस मन्त्र में वरुण से शृणों को दूर करने के लिए कहा जा रहा है । शृषि अन्यकृत भोजन अथवा धन नहीं चाहता । शृण के द्वारा अर्जित धन भी उसी श्रेणी का ही हुआ । अतः अकर्मिष्ठ व्यक्तियों द्वारा शृण को अपनी आजीविता बनाने का शृग्वेद विरोधी है । वैदिक नीति का यह तात्पर्य नहीं है कि धन के अभाव में व्यक्ति अपने जीवन को संकुचित कर ले प्रत्युत वह उसके दीर्घायु होने के पक्ष में है । परन्तु वह चाहती है कि व्यक्ति उचित मार्ग से जीवन-यापन करे । उसकी दृष्टि में शृण द्वारा धन का संवर्धन अनैतिक है ।<sup>2</sup>

#### 5.6 उपचार

वैदिक देवता मनुष्यों के<sup>के</sup> सर्वांगीण रक्षक हैं । उनके कृत्य से सेवा तथा प्रेम भावना को सबल प्राप्त होता है । वे मनुष्यों की प्रत्येक समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हैं ।

देव-युग्म अश्विनीकुमार शृग्वेद में भिषज्ज के रूप में वर्णित हैं । उन्होंने वृद्धावस्था के कारण जीर्ण हुए व्यजन शृषि के पुराने शरीर को नवान्न बना दिया था । अर्थात् वे कुरूपता के स्थान पर सौन्दर्य लाने में सक्षम हैं ।<sup>3</sup> इसी प्रकार वे कटे हुए पैर को फिर से ठीक कर देते हैं ।<sup>4</sup>

1. परं शृणा सावीरधु मत्कृतानि माहं राजन्नन्यकृतेन भोजम् ।

अव्युष्टा इन्न भूयसीरुषान् आ नो जीवान्वरुणं तामुशाधि ॥ ऋ02,23,9

2. तुलना करें - "और यदि शृणी तंगी में है, तो उसका हाथ खुलने तक उसे मुहलत दो, दान कर दो, तो यह तुम्हारे लिए ज्यादा अच्छा है, यदि तुम जानो ।" करआन, अल-बकरा, 280

3. प्र च्यवानाज्जुजुषो वत्रिमत् न मुन्वथः ।

युवा यदी कृत्यः पुनरा काममृण्वे वध्वः ॥ ऋ0 5,74,5

4. ऋ0 1,116,15

रोग एवं दरिद्रता का जीवन से साक्षात् सम्बन्ध होता है । यदि रोग की अग्नि जीवन-लीला को समाप्त कर सकती है तो दरिद्रता की अग्नि भी । अश्विनी कुमार जीवन-रक्षक होने के कारण इन दोनों से ही व्यक्ति की रक्षा करते हैं ।<sup>1</sup>

ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में इन्द्र को भी एक कुशल वैद्य के रूप में वर्णित किया गया है । छोटी-मोटी चोट तो वे ठीक कर ही देते हैं परन्तु कण्ठ कटने पर रुधिर-झाव से पूर्व ही वे कटे हुए भाग को जोड़ देते हैं ।<sup>2</sup> अन्धता<sup>3</sup> तथा पंगुता<sup>4</sup> को भी वे दूर कर देते हैं ।

सामान्यतया योद्धाओं की अन्तरात्मा घृणा तथा हिंसा से परिपूर्ण हो जाती है परन्तु इन्द्र इसके अपवाद हैं । वे जीवन-पर्यन्त युद्ध में संलग्न रहकर भी दया, उपचार आदि नैतिक आचरण में रत हैं । उनका यह आचरण देवताओं में विद्यमान दया-भावना को प्रकट करता है । एक मन्त्र में सूर्य देव के विषय में कहा गया है - "हे मित्र के अनुकूल तेजयुक्त सूर्य! तू उदित होकर आकाश में उठते हुए मेरे हृदय-रोग तथा बाह्य - रोगोंको नष्ट करे।<sup>5</sup> सूर्य चूंकि समस्त वस्तुओं के प्रभव एवं प्रलय के कारण है,<sup>6</sup> इसीलिए उनसे दो

1. उपायात् दाशुषे मर्त्याय रथेन वाममश्विना वहन्ता ।

युयुत्सुस्मदनिराममीवा दिवा नक्तं माध्वी त्रासीयां नः ॥ ॐ 7, 71, 2

2. ॐ 8, 1, 12

3. ॐ 4, 19, 9

4. ॐ 2, 15, 7

5. उद्यन्तु मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम् ।

हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय ॥ ॐ 1, 50, 11

6. भवद्भूतस्य भव्यस्य जगमस्थावरस्य च ।

अस्यैके सूर्यमेवैकं प्रभवं प्रलयं विदुः ॥ बृहद्देवता, 1/61

प्रकार के रोगों को नष्ट करने के लिए कहा गया है ।

वस्तुतः देवता मनुष्यों के समस्त नाशक तत्त्वों को समाप्त करने में तत्पर हैं । रोग भी एक प्रकार का नाशक तत्त्व ही है । जहाँ सृष्टि है वहाँ शोन्दर्य भी है, इसके विपरीत जहाँ विनाश है वहाँ कुरूपता है । इस दृष्टि से देवता आन्तरिक तथा बाह्य कुरूपता का क्षय करते हैं । रोग शारीरिक दुर्बलता को उत्पन्न करता है एवं कुरूपता आत्मिक क्षीणता को । इस प्रकार की बाह्य तथा आन्तरिक दुर्बलता को 'बल वर्धक' ब्रह्मणस्पति से दूर करते हैं ।<sup>1</sup>

#### 5.7. सृष्टि

देवताओं का स्वभाव सर्जनात्मक है । सृष्टि में उनका सहयोग संसार के लिए लाभदायक है । उनका यह कृत्य इस बात की प्रेरणा देता है कि संसार के हित में किया गया कार्य प्रशंसनीय होता है ।

इन्द्र के विषय में ऋषि कहता है - "हे सोम ! तुम्हारे सहयोग से इन्द्र ने अपनी शक्ति द्वारा सूर्य के चक्र को तुरन्त काट डाला । वह चक्र ऊपर, विशाल एवं अन्तरिक्ष में चल रहा था । वह चक्र सब ओर जाने वाला तथा महान् द्रोही था ।"<sup>2</sup>

विज्ञान ने सृष्टि सम्बन्धी ओक मत दिये हैं । उनमें से एक सिद्धान्त यह भी है कि एक तीव्रगामी नक्षत्र सूर्य के निकट आया तथा उसने सूर्य के ऊपरी तल से कुछ द्रव्य खींच लिया । उसने यह क्रिया अनेकशः की जिससे सूर्य

1. यो रेवान्यो अमीवहा वसुवित्पुष्टिर्वर्धनः । स नः सिषक्तु यस्तुरः ॥

श्व0 1, 18, 2

2. त्वा युजा नि निदत्सूर्यस्येन्द्रश्चक्रं तहसा तद्य इन्दो ।

अधि ष्णुना बृहता वर्त्मानं महो द्रुहो अ विश्वायु धायि ॥

श्व0 4, 28, 2

घूर्णित अग्नि - पिण्ड बन गया । इन अग्नि-पिण्ड के विस्फोट से अनेक ग्रहों का निर्माण हुआ । परन्तु गणितज्ञों एवं भौतिकी-शास्त्रियों ने इसका विरोध किया । अतः इस सिद्धान्त को त्याग दिया गया । दूसरा सिद्धान्त यह कहना है सूर्य जब किसी एक नीहारिका अथवा रज्ज्वाण-पुंज एवं गैतीय प्रदेश में से होकर गुजरा तो उसने वहाँ से कुछ द्रव्यों को अपनी आकर्षण-शक्ति के द्वारा एकत्रित कर लिया, जिसे ग्रहों का निर्माण हुआ । वैकल्पिक रूप से यह कहा जा सकता है कि सूर्य एवं ग्रहों का निर्माण "सौर्य नीहारिका" से हुआ है ।

उक्त मन्त्र में अत्यक्ष रूप से यह कहा गया है कि सृष्टि के आरम्भ में सूर्य गतिशील था, अतः वह इधर-उधर भ्रमण करता था । उसी भ्रमित सूर्य ने ही सौर्य नीहारिका से द्रव्यों को भी खींचा । इस कारण वह द्रोही भी हुआ । जब उसने द्रव्य अधिक मात्रा में एकत्रित कर लिया तो उनसे ग्रहों की संरचना हुई । ये ग्रह पारस्परिक आकर्षण-शक्ति के कारण एक व्यवस्था में गतिशील हैं । अतः प्रकट होता है कि इन्द्र ने उक्त गतिशील सूर्य को स्थिर किया । अतः जो सूर्य को स्थिर करने के लिए यत्र-तत्र भ्रमण करता था । 'सद्य' शब्द से यह स्पष्ट होता है कि इन्द्र ने इस कार्य को शीघ्र अथवा एक साथ किया था । विज्ञान का भी यही मत है कि समस्त ग्रहों की संरचना युगपत् घटित हुई ।

इन्द्र की सृष्टि का वर्णन इस प्रकार किया गया है - "सर्वव्यापी इन्द्र ने निरन्तर बहने वाली, कम-ठार, निश्चित घर वाली जलधारा को मुदत किया । प्लतः कवि लोग मन्त्रों में जलधाराओं में मधु मिश्रित कर रहे हैं । ये जलधाराएँ दिन-रात संसार को धारण कर चल रही हैं ।"

जलधाराएँ निवारों की पवित्रा की जोधक हैं । वे सृष्टि की प्रक्रिया हो सकती हैं क्योंकि जल से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानी

10. महि क्षेत्रं पुण्ड्रं विविक्तानादित्सगि-यश्चरथ समैरत् ।

इन्द्रो नृभिरजन्द्दीघानः स्यात् सूर्यमुषसं गातुमग्निम् ॥ २0 3,31,15

गयी है ।<sup>1</sup> मूल पदार्थ अथवा सार जल ही था । इन्द्र ने उसी में से गतिशील प्रक्रिया वाला जल निकाला एवं ऋषि ने उसमें पक्वता मिश्रित की । उसी पक्वता के कारण संसार से पाशविकता समाप्त हुई है । संसार की सरसता तथा मधुरता में भी इन्हीं का योगदान है ।

इन्द्र के विषय में अन्यत्र कहा गया है कि "जिस प्रकार प्रेयसी प्रेमी का निर्माण करती है उसी प्रकार इन्द्र ने समस्त मानवीय युगों का निर्माण किया है । इन्द्र ने वह कार्य सर्व - सुलभ कराया, इन्द्र का दान कल्याणकारी है ।"<sup>2</sup> सायण<sup>3</sup> के अनुसार संवत्सर, मास, पक्ष, दिक्स तथा रात्रि आदि काल का विभाग इन्द्र ने किया है ।

आइन्स्टाइन ने काल तथा देश को अलग नहीं माना है । उसके अनुसार पदार्थ के चार आयाम होते हैं - लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई तथा काल । यदि काल न हो तो शिशु शिशु ही रह जायेगा तथा क्ली क्ली ही । परिवर्तन की समस्त सम्भावनाएँ काल में हैं । काल के बिना कोई वस्तु नहीं हो सकती । अतः इन्द्र ने काल का निर्माण करके संसार का हित किया है ।

1. आपो वा इदमासन् सलिलमेव स प्रजापतिरेकः पुष्करपर्णे समभवत्

तस्यान्तर्मनसि कामः समवर्तन् इदं सृज्यम् ब्रूति ॥ नृसिंहपूर्वतापनी उपनिषद्  
तुलना करें - "यूनानियों की एक पुराण कथा में पिता समुद्र को लभी"<sup>1.1</sup>

वस्तुओं का उद्गम कहा गया है ।" डा० राधाकृष्णन्, उपनिषदों की भूमिका, पृ० 33

तुलना करें- "और अल्लाह ने प्रत्येक जीवधारी को ४ एक प्रकार के ४ पानी से पैदा किया तो कोई उनमें अपने पेट के बल चलता है और उनमें कोई दो पैरों पर चलता है तथा उनमें कोई चार पर ।" कुरआन, 24/25

2. समनेव वपुष्युतः कृण्वन्मानुषा युगा ।

विदे तदिन्द्रश्चेत्सामं श्रुतो भद्रा इन्द्रस्य रात्यः ॥ ऋ० 8, 62, 9

3. उपर्युक्त मन्त्र पर सायण - भाष्य

इन्द्र ने कम्पित होने वाले पर्वतों<sup>1</sup> तथा पृथिवी<sup>2</sup> को स्थिर किया । उन्होंने आकाश के उज्ज्वल क्षेत्रों को दृढ़ किया ।<sup>3</sup> इसके अतिरिक्त उन्होंने आकाश व पृथिवी<sup>4</sup>, सूर्य<sup>5</sup> तथा उषा<sup>6</sup> को भी उत्पन्न किया ।

इन्द्र अपने समस्त कार्यों को सोम-पान के द्वारा सम्पन्न करते हैं । एक मन्त्र में कहा गया है कि "पक्वि छन्ते में ऋत का तन्तु विस्तृत होता है, जिह्वा के अग्र-भाग पर भी वही धारा जाती है, यह वरुण की माया है । जो धीरे हैं वे सम्यक् गति के द्वारा उसे प्राप्त करते हैं, तथा जो अकर्मण्य हैं वह नीचे की ओर चलता है ।"<sup>7</sup> इस मन्त्र में सोम को ऋत का तन्तु कहा गया है । जिस प्रकार सोम बाहर होता है, व्यक्ति उसे जिह्वा पर लेता है तथा आत्मसात् करता है उसी प्रकार ऋत भी बाहर होता है एवं उसे ही ज्ञानी अपने जीवन में उतारते हैं । यह वरुण की ही माया है जो वैश्व-स्तर की घटना को उन्होंने व्यष्टि-स्तर पर ला दिया । अतः ऋत को स्तार में व्यवस्थापित करने का कार्य वरुण ने किया तथा सोम उसी ऋत का तन्तु अथवा रस हैं । ऋत चूँकि गतिशील शाश्वत व्यवस्था का नाम है अतः सोम-पान के पश्चात् इन्द्र का नैतिक कार्यों का करना स्वाभाविक है ।

सोम को ही ग्रीक भाषा में 'अम्ब्रोशिया' § Ambrosia § अर्थात् अमृत तन्तु कहा गया है ।<sup>8</sup> सोम उस दिव्य आनन्द का प्रतीक है जिसमें

1. ऋ0 2 11, 8/2, 12, 2, /3, 30, 4 .....

2. ऋ0 1, 62, 5/2, 15, 2/4, 42, 4 .....

3. ऋ0 8 14, 9

4. ऋ0 8, 36, 4, /6, 47, 4

5. ऋ0 3, 39, 4

6. ऋ0 2, 12, 7, /3, 31, 15

7. ऋतस्य तन्तुर्विस्तृतः पक्वि आ जिह्वाया ओ वरुणस्य मायया ।

धीरैश्चिन्तितस्मिन्क्षन्त आशतात्रो कर्मव पदात्यप्रभुः ।। ऋ0 9, 73, 9

8. श्री अरविन्द; वेद रहस्य §पूर्वार्द्ध§, पृ0 338



से मनुष्य की सत्ता उद्भूत हुई है। यह गुप्त आनन्द है जो सत्ता का आधार है। इस आनन्द के लिये तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है कि यह दिव्य सृष्टि का आकाश है जो यदि न हो तो कित्ती का भी अस्तित्व न रहे।<sup>1</sup> ऐतरेय उपनिषद् में बताया गया है कि सोम, चन्द्र-देवता के रूप में, विराट् पुरुष के इन्द्रियाधिष्ठित मन से उत्पन्न होता है तथा जब मनुष्य की रचना होती है तब वही चन्द्रमा पुनः मनुष्य के अन्दर इन्द्रियाधिष्ठित मन-रूप होकर अभिव्यक्त हो जाता है।<sup>2</sup>

श्री अरविन्द<sup>3</sup> का विचार है कि आनन्द ही इन्द्रिय-संवेदन के अस्तित्व का हेतु है अथवा सत्ता का जो गुप्त आनन्द है उसे भौतिक चेतना की परिभाषाओं में रूपान्तरित करने का एक प्रयत्न ही इन्द्रिय संवेदन है। उस भौतिक चेतना को प्रायः 'अर्द्रि' अर्थात् पहाड़ी, पत्थर अथवा घनीभूत पदार्थ के प्रतीक से निरूपित किया गया है। उसके अन्दर दिव्य - प्रकाश तथा दिव्य आनन्द होनों ही छिपे हैं, इन्हें वहाँ से मुक्त किया जाना है।

उपनिषदों में देवताओं को मानव-शरीर में होने वाले ऐन्द्रियिक व्यापारों का प्रतीक कहा गया है। सोम, जो वैदिक-यज्ञ के लिये सोमरस देने वाला पौधा था, उपनिषदों में न केवल चन्द्रमा का देवता हो गया अपितु मनुष्य में वह अपने जो मन के रूप में अभिव्यक्त करता है।<sup>4</sup> मैकडानल<sup>5</sup> का यह भ्रम है कि सोम धार्मिक उन्माद उत्पन्न करने वाला है।

1. तैत्तिरीय उपनिषद् 2/7

2. ऐतरेय स्रण्ड 1-2

3. श्री अरविन्द, वेद- रहस्य {पूर्वार्द्ध}, पृ० 338-39

4. वही, पृ० 38

5. वैदिक देवशास्त्र, पृ० 133

ऋग्वेद में सोम को जागरण प्रदान करने वाला<sup>1</sup> : तथा साधना के प्रतीक के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है।<sup>2</sup> एक मन्त्र में कहा गया है कि "इन यशस्वी सोमों को मैंने पी लिया है जो कि रक्षा करने वाले हैं, जैसे कि रथ को गाय {अथवा बैल} के चर्म से जोड़ों पर बाँधते हैं उसी प्रकार सोम हमारी रक्षा करने वाले हैं। ये सोम मेरी रक्षा करें कि मैं अपने वरित्र से च्युत न हूँ तथा व्याधि से मेरी रक्षा करें।"<sup>3</sup> यहाँ सोम को वरित्र सँवारने वाला कहा गया है। चूँकि शरीर की कल्पना एक रथ<sup>4</sup> के रूप में की गई है अतः यहाँ उसकी उपमा प्रस्तुत की गई है। इस मन्त्र में वरित्र को आवरण के अर्थ में वर्णित किया गया है। ऋत का ही तन्तु होने के कारण सोम वरित्र को नियन्त्रित करता है। अतः यह वरुण का प्रशंसनीय कार्य है जो उन्होंने मनुष्यों के लिए सोम की व्यवस्था की। इस सोम से ही शक्ति-सम्पन्न होकर नैतिक क्षेत्र में पदार्पण करना सहज है।

सृष्टि में अन्य देवता भी सहयोग देते हैं। मरुद्गण भी मेघों से वर्षा कराने में सोम को ग्रहण करते हैं।<sup>5</sup> अग्नि ने ऋतुओं का विभाग कर पृथिवी के प्राणियों के निमित्त पूर्व-दिशा के पश्चात् क्रमपूर्वक दिशाओं को बनाया।<sup>6</sup>

1. शुष्मिन्तमं न ऊत्ये घुम्निनं पाहि जागृविम् ।

इन्द्र सोमं शन्क्रतो ॥ ऋ0 3,37,8

2. ऋ0 4,25,6

3. इमे मा पीना यशसं उरुष्यवो रथं न गावः समनाह पर्वसु ।

ते मा रक्षन्तु विप्रसं वरित्रादुत मा भ्रामाद्यव्यन्तित्वन्दवः ॥ ऋ0 8,48,5

4. देखें, कठोपनिषद्, 3/3-6

5. ऋ0 1,85,10

6. ऋ0 1,95,3

## 5.8. संरक्षा

वैदिक देवता भौतिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक संरक्षा प्रदान करते हैं। वे मानवीय जीवन में सत्य तथा सौन्दर्य की छटा देना चाहते हैं। जीवन का सौन्दर्य समस्त वस्तुओं के समन्वय से होता है। वास्तविक सौन्दर्य वही है जो ऋत से संवाहित हो। जिस सौन्दर्य में सत्य का समावेश नहीं वह निस्सार है। अतः वास्तविक सौन्दर्य को प्राप्त करने के लिए ऋत की संरक्षा आवश्यक है।<sup>1</sup>

इन्द्र द्वारा रक्षित मनुष्य सदा नवीन रहता है।<sup>2</sup> अतः देवताओं का संरक्षण कोई साधारण संरक्षण नहीं है। जीवन के सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य तक पहुँचने के लिए सामान्यतया सौ वर्ष की आवश्यकता को वेद ने स्वीकार किया है। इससे पूर्व मृत्यु का अर्थ होगा लक्ष्य से वंचित रह जाना। अतः इन्द्र उस लक्ष्य तक पहुँचाने में सहायक है।<sup>3</sup>

जिस प्रकार नाव से व्यक्ति नदी को पार करता है उसी प्रकार अश्विनीकुमारों की सहायता से दुर्गति को, जिस प्रकार दो चक्र रथ का वहन करते हैं उसी प्रकार देवयुग्म मनुष्यों का तथा जिस प्रकार कवच द्वारा शरीर की रक्षा होती है उसी प्रकार अश्विनीकुमारों के द्वारा मनुष्यों की।<sup>4</sup>

1. त्वं नो अस्या इन्द्र दुर्हणायाः पाहिवज्रिवो दुरितादभीके ।

प्र नो वाजान्स्थोऽश्वबुध्या निषे यन्धिं श्रवसे सूनृतायै ॥ ऋ0 1, 121, 14

2. नूत्ना इदिन्द्र ते व्यमृती अभून्नि नू ते अद्रिवः ।

विद्महा पुरा परीणतः ॥ ऋ0 8, 21, 7

3. ऋ0 3, 53, 20

4. नावेव नः पारयतं युगेव नश्येव न उपधीव प्रधीव ।

श्वानेव नो अरिषण्या त्मनां सुगलेव विहसः पान्थमात् ॥ ऋ0 2, 39, 4

वैदिक देवता मनुष्यों से रक्ष्य-भाव रखते हैं । उनकी मित्रता में मनुष्य ऋद्धि एवं विविध सुख प्राप्त करता है ।<sup>1</sup> उनका संरक्षण सुख एवं दुःख दोनों ही परिस्थितियों में होता है । मनुष्य का दुर्भाग्य है कि वह किसी भी परिस्थिति में पथ-भ्रष्ट हो सकता है, अतः विनिपात से सुरक्षित रहने का कार्य देवता ही कर सकते हैं ।<sup>2</sup> इसे अतिरिक्त वे दरिद्रता, बुभुक्षा तथा निन्दन के पाशों से मनुष्यों का परित्राण करते हैं ।<sup>3</sup>

यदि मनुष्यनैतिक मार्ग से च्युत हो गया तो वह आध्यात्मिक जीवन से भी वंचित रह जायेगा । अन्तस् की यह रिक्तता भौतिक जीवन को भी पर्याप्त रूप से प्रभावित करेगी । आत्मिक बल से शून्य व्यक्ति सुदृढ़ समाज के निर्माण में असमर्थ होगा एवं अपनी कुरीतियों के वशीभूत होकर विध्वंसकारी मार्ग पर अग्रसर होगा । अतः देवताओं की सुरक्षा का महत्त्वपूर्ण पक्ष यही है कि वे दुश्चरित्रता, अनेकता तथा पापों से मनुष्यों की रक्षा करते हैं ।

ऋषि का कथन है - जो इस ब्रह्मणस्पति के लिए घृत्युक्त हविष से उपासना करता है उसे वे ऋजु मार्ग से ले जाते हैं, उसी वे पाप से रक्षा करते हैं, द्वेष से भी रक्षा करते हैं तथा दरिद्रता से भी वे अद्भुत ब्रह्मणस्पति उबारते हैं ।<sup>4</sup> इस मन्त्र से स्पष्ट होता है कि देवोपासना के द्वारा व्यक्ति पाप, द्वेष तथा दरिद्रता के पथ से हटकर ऋजु मार्ग पर चलने में समर्थ होता है ।

1. ऋ0 2,25,5

2. स नो बोधि पुराणा लोषूत दुर्गेषु पथिकृद्विदानः ।

ये अत्रमातः उरयो वहिष्ठास्तेभिर्न इन्द्राभिवक्षि वाजम् ॥ ऋ0 6,21,12

3. ऋ0 8,66,14

4. यो अस्मै हव्येर्धृत्वंदिभरति धृत्त तं प्रवाच नयति ब्रह्मणस्पतिः ।

उरुष्यतीमहेतो रक्षन्ती रिषोऽहो रिषेदस्मा उरुवक्रिरद्भुतः ॥ ऋ0 2,26,4

ऋषि अन्यत्र कहता है कि "हे देवताओं ! सूर्य के उदित होने पर हमें पाप तथा विभाजन से निकालो । मित्र, वरुण मुझे न मारे, अदिति, सिन्धु तथा द्यावा-पृथिवी हमारा वध न करें ।"<sup>1</sup> पाप एक छण्डन की स्थिति है, अतः सूर्य इस विषम स्थिति से मनुष्यों को निकालने है । इस मन्त्र में पाप, छण्डन तथा मृत्यु से एक साथ सुरक्षित रहने की कामना यह प्रकट करती है कि ये तीनों तत्त्व वस्तुतः एक ही हैं । मृत्यु भौतिक रूप को, विभाजन मानसिक क्षेत्र को तथा पाप आध्यात्मिक स्वरूप को नष्ट करने वाले तत्त्व का नाम है । समग्र रूप में ये समूचे व्यक्तित्व को नष्ट करने वाले तत्त्व है । अतः देवताओं का इन घातक तत्त्वों से मनुष्यों को सुरक्षित रखना विलक्षण कार्य है । वे मनुष्यों के साथ पशुओं की भी रक्षा करते हैं ।<sup>2</sup>

एक ऋचा में कहा गया है कि "जो कर्मा को निर्धारित करते हैं, जिनके पास महान् ऐश्वर्य है, जो सबके जानने योग्य है तथा सब प्राणियों को वश में रखने वाले हैं, वे सवितादेव हमारे पापों को नष्ट करें तथा तीनों लोकों में स्थित महान् सुख के प्रदान करने वाले हों ।"<sup>3</sup> इस मन्त्र से प्रकट होता है कि तीनों लोकों के अर्थात् असीम सुख को प्राप्त करने के लिए निष्पाप होना आवश्यक है । देवता वृंकि समस्त प्राणियों के कर्मा को निर्धारित करते हैं तथा उन्हें वश में रखते हैं अतः यह उनका नैतिक उत्तरदायित्व है कि वे पापों को

1. अद्या देवा उदिता सूर्यस्य निरहंसः पिपृता निरवघात ।

तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ॥ ऋ0 1, 15, 6

2. ऋ0 8, 19, 6

3. बृहत्सुम्नः प्रसवीता निवेशनो जगतः स्थातुभ्यस्य यो वशी ।

स नो देवः सविता शर्म यच्छत्सो क्षयाय त्रिवरु धर्महंसः ॥ ऋ0 4, 53, 6

नष्ट करके सुख प्रदान करें ।

देवी-शक्तियाँ मित्रवत् होती हैं यह निम्नलिखित मन्त्र से प्रकट होता है - "हे बृहस्पति ! तू उस व्यक्ति के लिए अन्न युक्त मार्ग जैसे हो जो ठीक प्रकार से चलता है तथा उस शक्तिशाली व्यक्ति के लिए मित्रवत् हो औसन्तुष्ट रहता है । जो पाप रहित व्यक्ति हमारे चारों ओर विद्यमान हैं वे अज्ञान से प्रच्छन्न हैं , वे उस अज्ञान से रहित हो जाएँ ।"<sup>1</sup> इसमें बृहस्पति को उसका मित्र बताया गया है जो सन्तुष्ट रहता है अर्थात् जिसमें उत्कट इच्छाएँ नहीं हैं ।<sup>2</sup> बृहस्पति निष्पाप अज्ञानी के अज्ञान को समाप्त करके यह प्रकट करते हैं कि ज्ञान के लिए निष्पापत्व आवश्यक है ।

देवगण प्रत्यक्ष पापों के अनिरिक्त अत्यक्ष पापों का भी निवारण करते हैं । यह बात इत मन्त्र से प्रकट होती है - "हे सवितादेव ! आज हमारे प्रति सन्तान से युक्त सौभाग्य को प्रेरित करो, दुःस्वप्न से युक्त स्थिति को दूर करो ।"<sup>3</sup> अवेत्स में निहित पाप स्वप्नों के माध्यम से अपने अस्तित्व को सूचित करते हैं । अतः ऋषि उन अत्यक्ष पापों से सुरक्षित रहना चाहता है जो अवेत्स में जड़ जमाये बैठे हैं । देवता उसके आह्वान को सुनकर उसे मिथ्या भय तथा अवेत्स के पापों से मुक्त करके उसके समूचे व्यक्तित्व को निष्कल कर देते हैं । मनुष्य का आचरण अवेत्स द्वारा ही निर्धारित होता है अतः अवेत्स की शुद्धि का अर्थ होगा आचरण की शुद्धि । वैदिक देवता केवल पाप से ही रक्षा नहीं करते अपितु पापियों से भी रक्षा करते हैं ।<sup>4</sup> इस प्रकार कहा जा सकता है कि

1. शुभ्रेतुः सूर्यवसो न पन्था दुर्नियन्तुः परिप्रीतो न मित्रः ।

अनुवाणो अभि ये वक्षते नोऽपीवृता अपोर्ण्वन्तो जस्युः ॥ ऋ0 1, 190, 6

2. अल्लाह सन्तोष करने वालों के साथ है । कुरआन, 2/153

3. अद्या नो देव सविनः प्रजावत्सावीः सौभगम् ।

परो दुःष्वप्यं सुव ॥ ऋ0 5, 82, 4

4. त्वं नः सोम विश्वतो रक्षा राजन्नघायतः ।

न रिष्येत्त्वावतः सखा ॥ ऋ0 1, 91, 8

ऋग्वेद में वर्णित समस्त देवताओं के संरक्षण का लक्ष्य है - मनुष्यों का आन्तरिक तथा बाह्य दोनों ही दृष्टियों से परिष्कृत होना । यही कारण है कि वैदिक व्यवस्था के अन्तर्गत ज्ञान-प्राप्ति से पूर्व कर्मकाण्ड से गुजरना आवश्यक बताया गया है । उससे व्यक्ति का सर्वतोमुखी परिष्कार होता है ।

### 5.9. अभिचार

आधुनिक विज्ञान 'अभिचारण' में विश्वास नहीं रखता । परन्तु प्राचीन साहित्य तथा प्रायः समस्त धर्मों ने इसे स्वीकृति दी है ।

ऋग्वेद इसका उल्लेख नहीं है । एक मन्त्र में ऋषि कहता है कि "हे चारों ओर प्रकाश करने वाले अग्नि ! मेरी रक्षा करो, मेरे भीतर जादू न प्रविष्ट हो, जादू से मेरी रक्षा करो । हे अग्नि ! धन के साहित्य, भूख तथा राक्षसों को दो कोस दूर भगा दो ।"<sup>1</sup> यहाँ जादू को हेय दृष्टि से देखा गया है। जादू एक ऐत्तिक माध्यम है जिससे किसी की हानि की जा सकती है । इसके द्वारा प्राणों भी लिए जा सकते हैं । अतः इस प्रकार की गहिर्त विद्या का वेद विरोध करता है ।

कुरआन में भी जादू-टोने का वर्णन आता है यहाँ कहा गया है कि "जो व्यक्ति जादू-टोने का दुष्प्रयोग करेगा उसे दण्डित होना पड़ेगा, उसे अपने प्राणों का सौदा करना पड़ेगा ।"<sup>2</sup> इस प्रकार प्राचीन तथा अर्वाचीन दोनों ही धर्म ग्रन्थ अभिचार को पाप तथा ऐत्तिक कहते हैं ।

जादूगरी एक प्रकार का बल प्रयोग है, जो कल्पित मन्त्रों के माध्यम से किया जाता है । इस प्रकार का व्यवहार करने वाला ऋत से वंचित

1. मा नो रक्ष जा वेशीदाघृणीवत्सो मा यात्यात्सुमावन्ताम् ।

पु० रोगव्यूत्यनिराम० क्षुधमग्ने तेष रक्षस्विनः ॥ ऋ० ३, 60, 20

2. कुरआन, जल- बकरा, 102

रह जाता है तथा ऋत से वंचित रहना विनिपात को निर्मात्रित करना है ।  
अभिवार सम्भवतः निर्धृति से सम्बन्धित है क्योंकि अभिवारी ऋत से विप्लवत  
होना है ।<sup>1</sup> अतः जिनके जीवन में निर्धृति का वर्तस्व होगा वे ही जादू -  
टोना करेंगे, ऋत-ामी नहीं ।

#### 5.10. नीति स्थापना

वैदिक देवता प्रत्येक प्रकार से मनुष्यों की सहायता करके इन्हें  
सम्पन्न रखते हैं । वे भौतिक जीवन की सफलता में भी सहायक हैं तथा नैतिक  
एवं आध्यात्मिक जीवन की सफलता में भी । इस प्रकार संसार में सुख-शान्ति  
तथा सामंजस्य स्थापित करने का उनका दृढ़ निश्चय प्रशंसनीय है । उनकी इच्छा  
है कि संसार से दुश्चरित्रता समाप्त हो जाय तथा भविष्य में भी वह पुनर्भूत न  
हो सके । इस प्रकार नीति की अजस्र धारा अक्षुण्णरूप से प्रवाहित रहे ।<sup>2</sup>

देवता उन पथों को सुगम्य बनाते हैं जिन पर शत्रुओं का अधिकार  
होने के कारण चलना दुष्कर होता है । वे दुश्चरित्रता को जो एक प्रकार का  
शत्रु ही है समाप्त करते हैं ।<sup>3</sup> एक ऋचा में कहा गया है - "हे विकराल मरुतो !  
तुम सुन्दर वेत्ना वाले तथा अहिंसक हो, हमारी सुमति को पूर्ण करो । जब  
तुम्हारी विद्युत-रूपी उड़ग द्युत्पिमान् होना है तब वह बर्छी के समान पशुओं को

1. ऋतं वि॒कित्कृ॒तमि॒च्चि॒कित्कृ॒तस्य॑ धारा॒ ऋ॒तं तृ॒न्धि पूर्वी॑ : ।

नाहं॑ या॒तुं सह॑सा न द्वये॑न॒ ऋतं॑ स॒पाम्य॑रुषस्य॒ वृष्णः॑ ॥ ऋ० 5, 12, 2

2. वि॒घ्नन्तो॑ दुरि॒ता पु॒रु सु॒गा तो॒काय॑ वा॒जिनः॑ ।

त्मा॑ वृ॒ण्वन्तो॑ अ॒र्वते ॥ ऋ० 9, 62, 2

3. वि॒ दुर्गा॑ वि॒ द्विषः॑ पु॒रो ह॒न्ति रा॒जान॑ एषाम् ।

नय॑न्ति दुरि॒ता त्रिः॑ ॥ ऋ० 1, 41, 3



नष्ट करना है ।<sup>1</sup> देवता सुन्दर चेतना वाले हैं इसलिए वे मनुष्यों में सुमति का प्रसार करते हैं । यहाँ मरुतों को अहिंसक कहकर उन्हें पशुओं का नाशक कहा गया है । इस विरोधाभास का कारण यह है कि वे पाशविकता को नष्ट करते हैं मनुष्यत्व को नहीं ।

मनुष्य औत्तिक कार्य अपनी इच्छा-शक्ति की दुर्बलता के कारण करता है । अतः देवता मनुष्यों की इच्छाशक्ति तथा दक्षता को तीक्ष्ण करते हैं । जो कुछ भी व्यक्ति पाप करता है उसका वे रेवन करते हैं । इस कार्य में सहायक हैं मन्त्र अथवा सुबुद्धि । जिस प्रकार नाव द्वारा सागर पार किया जा सकता है उसी प्रकार मन्त्र द्वारा भव-सागर ।<sup>2</sup>

वेद की शिक्षा आज भी उत्तमी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी कि वे सहस्रों वर्ष पूर्व थीं । इसका कारण है उसकी व्यापक दृष्टि । ऋग्वेद केवल ऋग्वेदकालीन समाज का ध्यान रखकर ही नीति का संप्रासरण नहीं करता अपितु वह नगरसे संसार तक तथा वर्तमान से भविष्य तक उन्नयन का मार्ग निर्दिष्ट करता है । इसका उदाहरण इस मन्त्र में प्राप्त होता है - हेनवीन अग्नि ! जितने भी दुर्गम कार्य या स्थल हैं उनसे तू हमें कल्याणपूर्वक पार कराओ । हमारी नगरी तथा पृथिवी दोनों ही बहुल प्राणियों से युक्त तथा विशाल बने, सन्तान तथा आगामी सन्तानों के लिए कल्याणकारी बने ।<sup>3</sup>

मनुष्य देवताओं के सम्पर्क में आकर क्रोध तथा कुत्सित मार्ग को त्यक्त कर निष्पाप तथा सुखी हो जाता है ।<sup>4</sup>

1. यूयं न उग्रा मरुतः सुवेत्नारिषट्यामाः सुमतिं पिपत्सु ।

यत्रा वो विद्युद्वदति क्रिविदती रिणति पशवः सुधितेव बर्हणा ॥ ऋ0 1,166,6

2. इमा धियं शिक्षमाणस्य देव क्रतुं दक्षं वरुणं स शिक्षाधि ।

ययाति विश्वा दुरिता तरेम सुत्तर्माणमधि नावं रुहेम ॥ ऋ0 8,42,3

3. अग्ने त्वं पारया नव्यो अस्मान्स्वस्तिभिरति दुर्गाणि विश्वा ।

पूषं पृथ्वी बहुला न उर्वी भवां तोकाय त्मयाय शं योः ॥ ऋ0 1,189,2

4. न ते तिम्रं वन त्याजो न द्रांसदभि ते गुरु ।

यस्मा उ शर्म सप्रथ आदित्यासो अराध्वमनेहसो व ऊत्यः सुऊत्यो व ऊत्यः ॥ ऋ0 8,47,7

यदि कोई वह मार्ग पर चलता है तो देवता उसे उस पन्म की स्थिति से निकाल कर सन्मार्ग पर लाते हैं ।<sup>1</sup> वे केवल सन्मार्ग पर लाकर उसे आवर्जित नहीं कर देते प्रत्युत उसे निर्बाध गति से चलते रहने के लिए प्रेरित भी करने रहते हैं ।<sup>2</sup> देवताओं के इस नैतिक प्रयास के कारण ही संसार में नैतिकता व्याप्त है । यह बात इस मन्त्र से प्रकट होती है -

"जिनका दिया हुआ प्रभूत धन स्थिर रहता है, वह कभी क्षीण नहीं होता, जिनकी यज्ञों में स्तुति की जाती है वे मरुद्गण सोम-पान के लिए इन्द्र की प्रशंसा करते हुए उनकी शक्ति तथा कार्यों के ज्ञाता हैं ।"<sup>3</sup> यहाँ उस धन के विषय में कहा गया है जो स्थायी होता है, कभी क्षीण नहीं होता । स्पष्ट है कि यह भौतिक सम्पत्ति नहीं हो सकती । अतः यहाँ नैतिक मूल्यों § Moral values § की बात कही गयी है । इस प्रकार कहा जा सकता है कि जहाँ कहीं भी नैतिकता है वह देवताओं के कारण ही है ।

नैतिकता ज्ञानवत्ता से अनुस्यूत रहती है । अतः जब तक अज्ञान का आवरण होगा तब तक नीति का जन्म नहीं हो सकता । यह बात उस मन्त्र से प्रकट होती है जहाँ कहा गया है कि - "पीछे से भगाये जाने पर अन्धकार नष्ट हो गया, छलोक प्रकाशित हुआ तथा उषा की ज्योति बल पड़ी । सूर्य मनुष्यों के लिये - अजु को देखते हुए महान् एवं अछिन्न पर्वत पर स्थिर हुए ।"<sup>4</sup>

1. ऋ0 1,31.6

2. अ॒र्वा॒णो इ॒ष्टो॒ऽप॒न्था॒ आ॒दि॒त्याना॑म् ।

अ॒द॒ब्धाः स॒न्ति पा॒यवः॑ सु॒वृ॒धः ॥ ऋ0 3,13,2

3. प्र॒ स्म॒भ॒दे॒ष्णा स॒व॒भ्रा॒ध॒नोऽला॒ङ्गासो॑ वि॒द थे॒षु रु॒ष्ट॒ताः ।

अ॒व॒न्त्य॒र्क म॑दि॒रस्य॑ पी॒त्ये दि॒दुर्वी॑रस्य॑ प्रथ॒मानि॑ पौ॒त्या ॥ ऋ0 1,166,7

4. ने॒श॒त्त॒मो दु॒धिन॑ रो॒वन् गौ॑रु॒दे॒व्या॒उ॒षसो॑ भानु॒रर्त्त॑ ।

आ सूर्यो ब॒हन्ति॑स्त्रि॒ष्ट॒व्रा अ॒जु म॑र्त्य॒वृ॒जिना॑ प॒श्यन् ॥ ऋ0 4,1,17

इस मन्त्र में लाक्षणिक रूप से कहा जा रहा है कि प्रकृति एवं दिव्य शक्तियाँ नीति की स्थापना में सहायक होती हैं। अन्धकार को मानो इसी हेतु दूर किया गया ताकि ऋजु तथा अंजु को विविकृत किया जा सके। यह अज्ञान का ही अन्धकार हो सकता है, जिसके अभाव में व्यक्ति नैतिकता के प्रति उन्मुख होता है। यहाँ सूर्य देव जो सरलता तथा कृपा के साक्षी के रूप में अनुमित किया गया है जिसे प्रतीत होता है कि देवता मनुष्यों के कार्यों से अभिन्न नहीं होते। यदि वे देखते हैं कि व्यक्ति कुमार्ग पर जा रहा है तो उसे सन्मार्ग पर लाने का वे प्रयास करते हैं। इस कार्य में उत्पन्न समस्त व्यवधानों को भी वे समाप्त करते हैं।

अतः यह कहना समीचीन होगा कि जिस प्रकार मार्ग का ज्ञाता मार्ग - दर्शन कराता है उसी भाँति देवता भी नीतिज्ञ होने के कारण सन्मार्ग - दर्शन कराते हैं।<sup>1</sup> जो पथ-प्रदर्शक होता है उसे 'अगुआ' कहा जाता है, इस दृष्टि से वैदिक देवता मनुष्यों के 'अगुआ' हैं अर्थात् उन्हीं का अनुगमन उपादेय है।

#### 5.11. साम्य दृष्टि

आधुनिक युग में जाति-प्रथा एक गम्भीर समस्या के रूप में विद्यमान है। इसे समाज का 'कैंसर' कहा जाता है। इसका जारम्भ कब और कैसे हुआ इस विषय में मतभेद है।

सेनार्ट<sup>2</sup> का विचार है कि जब आर्य भारत वर्ष में आए तो उनसे एक संकर नस्ल बनी, जो क्रमशः जाति-प्रथा के रूप में विकसित हुई।

1. ....।

पुरा नो बाधाद्दुरितानि पारय क्षेत्रविद्धि दिश जाहा विपृच्छते ॥

श्रु 9,70 9

2. जे0एच0 हटन, भारत में जाति प्रथा, पृ0 162

हे दुर्लोक्षा<sup>1</sup> के मन में जाति-प्रथा के लिए स्मृतिकार अथवा ब्राह्मण उत्तरदायी हैं। उनका विचार है कि यह ब्राह्मणों द्वारा प्रयुक्त एक वस्तु युक्ति थी जिसका प्रयोजन था उनके वर्वस्व की सुरक्षा।

डाब्लमान<sup>2</sup> का कहना है कि भारतीय समाज में आरम्भ से तीन वर्ग- पुरोहित, राजन्य तथा बुर्जवा थे। ये क्रमशः धार्मिक राजनैतिक तथा आर्थिक शाखाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। फिर ये वर्ग अनेक भागों तथा उप-भागों में विभाजित हो गए। इनमें से कुछ रक्त सम्बन्ध के आधार निर्मित हुए तथा अन्य व्यावसायिक आधार पर। उनका यह भी विचार है कि जाति चारों वर्गों से नहीं निर्मित हुई प्रत्युत अणित निगमों तथा रक्त-सम्बन्धों से सम्पृक्त समुदायों से निर्मित हुई है जिनमें ये चारों वर्ग विभाजित हो गए थे।

उपर्युक्त विद्वानों के मतों के आधार पर यह कहना अंगत है कि आर्यों के आक्रमण के कारण जाति-प्रथा का प्रचलन हुआ, क्योंकि अभी तो इसका निर्णय नहीं हो पाया है कि आर्य मूलतः भारतीय थे अथवा वे किसी अन्य देश से आए थे। परन्तु ऋग्वेद के कल्पित मन्त्र उक्त समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हैं।

ऋषि की उक्ति है कि "हे अग्नि ! तुम सबको समान देखने वाले सर्वव्यापी तथा स्वामी हो। युद्ध के अवसर पर हम तुम्हें आहूत करते हैं।"<sup>3</sup> यहाँ स्पष्टतया कहा जा रहा है कि देवता की दृष्टि में सभी समान हैं। देवता भेद-भाव नहीं करते।

एक अन्य मन्त्र में ब्रह्मणस्पति के विषय में कहा गया है कि वे निर्बल तथा बलवान् दोनों ही की रक्षा करते हैं तथा वे समस्त जीवों के स्वामी हैं

1. वही, पृ० 160

2. वही, पृ० 161

3. पु०त्रा० हि० स० ऋ० ऋ० वि० शो० वि० अ० प्र० भुः ।

समस्तु त्वा हवामहे ॥ ऋ० 8, 43, 21

अर्थात् वे किसी व्यक्ति अथवा जाति विशेष के स्वामी न होकर प्राणी मात्र के स्वामी हैं ।<sup>1</sup>

वैदिक देवता मनुष्यों से भ्रातृत्व भाव रखते हैं । अतः उनके समीप स्व-पर की श्रेणियाँ नहीं हो सकतीं ।<sup>2</sup>

ऋग्वेद उषा के विषय में कहता है कि "इस भाँति चमकती हुई यह महान् उषा देवताओं तथा मनुष्यों में अन्तर रखे बिना सुखकारी-दर्शन के हेतु सभी को प्राप्त होती है । पाप रहित शरीर से बढ़ती हुई भास्वर उषा छोटे अथवा बड़े किसी से भी नहीं हटती ।"<sup>3</sup> यहाँ उषा की विशालतम दृष्टि का आभास होता है । उसकी दृष्टि में देवता तथा मनुष्य समान हैं । वह भेद-भाव नहीं करती । यदि देवता एवं मनुष्य समान हैं तो फिर मनुष्य तथा मनुष्य परस्पर अस्मान कैसे हुए ?

परवर्ती साहित्य ने ऋग्वेद के 'पुरुष सूक्त' में वर्णित उस मन्त्र को जाति प्रथा का आधार माना है जिसमें कहा गया है कि विराट् पुरुष का मुख ब्राह्मण, भुजा क्षत्रिय, जंघाएँ वैश्य तथा वरुण शूद्र हुए ।<sup>4</sup> परन्तु यह विभाजन कर्म की दृष्टि से किया गया है । अध्ययन का कार्य करने वाला ब्राह्मण, रक्षा करने वाला क्षत्रिय, आर्थिक ढाँचा वहन करने वाला वैश्य तथा सेवा इत्यादि का कार्य करने वाला शूद्र हुआ ।

यदि उपर्युक्त विश्लेषण को अस्वीकार भी कर दिया जाए तो यह कैसे कहा जा सकता है कि एक ही शरीर का अमुक अंग महत्त्वपूर्ण है तथा अमुक घृणित । यदि 'पुरुष' एक ही था तो उसका मुख भी उत्तम ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि उसके वरुण । अतः इस दृष्टि से भी समस्त मनुष्य समान हैं ।

1. योऽवरे वृजने विश्वया विभुर्महामु रणवः शक्सा व्वक्षिथ ।

स देवो देवान्प्रति पृथे पृथु विश्वेदु नापरिभूर्ब्रह्मणस्पतिः ॥ ऋ02, 24, 11

2. त्वं जामिर्जानामग्ने मित्रो असि प्रियः । सखा सखिभ्य ईड्यः ॥ ऋ01, 75, 4

3. एवेदेषा पुरुत्मा दुशेकं नाजामि न परि वृणक्ति जामिम् ।

अरेपसा तन्वा इ शशदाना नाभादीषते न मुहो विभाती ॥ ऋ01, 124, 6

4. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्वाहू राजन्यः कृतः ।

उरु न्दस्य यद्वैश्यः प्रदभ्या शूद्रो अजायत ॥ ऋ0 10, 90, 12

बृहदारण्यक उपनिषद्<sup>1</sup>, मनु स्मृति<sup>2</sup> तथा महाभारत<sup>3</sup> में भी यही दृष्टिकोण प्राप्त होता है, जिसके अनुसार जातियों अथवा वर्णों का विभाजन व्यक्तिगत स्वभाव पर आधारित था जो कि अपरिवर्तनीय नहीं था। प्रारम्भ में केवल एक ही वर्ण था। सभी मनुष्य ब्राह्मण थे अथवा सभी शूद्र। यजुर्वेद<sup>4</sup> तथा अथर्ववेद<sup>5</sup> में भी चारों वर्णों में परस्पर सहयोग द्रष्टव्य है।

इस प्रकार यह प्रत्यक्ष है कि ऋग्वेद में भेद-भाव के प्रमाण नगण्य हैं। देवताओं के निकट न कोई वर्ण-भेद है न ही कोई जाति-भेद<sup>6</sup> परन्तु एक भेद अवश्य है नैतिक तथा अनैतिक अथवा पापी एवं पुण्यशील का।

इस सन्दर्भ में सोम का कथन महत्त्वपूर्ण है कि "जहाँ देवता हैं, उसी दिशा में हम गमन करते हैं। हे सोम तुम शीघ्र ही देवताओं के शरीरों में रमण करने के लिए आओ।"<sup>7</sup> इस मन्त्र से ज्ञात होता है कि जहाँ देवत्व होता है वहीं सोम जाते हैं अर्थात् वे राक्षसत्व के समीप नहीं जाते। इस मन्त्र के आधार पर दो वर्ग बनते हैं - एक देवताओं का तथा दूसरा राक्षसों का। इसे ही प्रकारान्तर से नैतिकता और अनैतिकता का वर्ग-विभाजन कहा जा सकता है।

विद्वानों की यह मान्यता कि आर्य दहिर्देश से आए थे और उन्होंने भारत के मूल निवासियों को अन्धकार कहकर उनसे घृणा की एवं इसी घृणा के आधार पर जाति अथवा वर्ण भेद अस्तित्व में आए, पूर्णतः असंगत है। इसके उत्तर में ऋषि

1. बृहदारण्यक उपनिषद्, 1.4-11-15

2. मनुस्मृति, 1-31

3. महाभारत, 12-183

4. यजुर्वेद, 18/49

5. अथर्ववेद, 19, 32, 1

6. अयं निजः परो वेति गणना लघुवेत्साम् ।

उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥ पंचमंत्र, अपरीक्षितकारकम्, 38

7. आशुरेर्षे बृहन्मते परि प्रियेण धाम्ना । यत्र देवा इति ब्रुवन् ॥ श्व0 9, 39, 1

स्वयं कहना है कि " हे धनी इन्द्र ! जो हमारा वध करना एवं हमें तशीभून करना चाहता है उसके वज्र को तुम छिपा दो, वह चाहे दास हो अथवा आर्य, यदि वह जीतना चाहता है तो उससे घातक शस्त्र को पृथक् कर दो ।"<sup>1</sup> इस मन्त्र से स्पष्ट हो जाता है कि आर्य तथा अनार्य की भेद-भावना ऋग्वेद में नहीं थी । यदि आर्य पत्नि है तो वह भी देवताओं द्वारा दण्डित होता है । देवता केवल उत्तम तथा अधम कर्मों के आधार पर मनुष्यों को पुरस्कृत अथवा दण्डित करते हैं ।<sup>2</sup>

### निष्कर्ष

उक्त तथ्यों के आलोक में यह स्पष्ट हो जाता है कि देवता ही नैतिकता के आदर्श हैं । उन्हीं का अनुकरण मनुष्यों को करना है ।

देवता तीन प्रकार से नीति की स्थापना करते हैं ।

प्रथम वे स्वयं नैतिक कार्य करके एक आदर्श रूप उपस्थापित करते हैं अर्थात् वे दान देकर मनुष्यों के समक्ष नीति का एक अनुकरणीय रूप प्रस्तुत करते हैं कि वे भी दान दें । इसी प्रकार वे संरक्षा तथा सर्जनात्मक कार्यों के द्वारा मनुष्यों को प्रेरित करते हैं कि वे भी जीवन में इसी प्रकार का कार्य करें तथा समस्त प्राणिमियों को वे समान दृष्टि से देख कर मनुष्यों को भी समानता के व्यवहार का बोध कराते हैं ।

द्वितीय वे मनुष्यों को साक्षात् प्रेरित करते हैं कि वे नैतिक कार्यों को स्वयं करें । उदाहरणार्थ वे इच्छाशक्ति को सुदृढ़ करते हैं, पापों का रेचन करते हैं, पत्नि मार्ग से निकालते हैं तथा अवेत्तन को शुद्ध करते हैं । इस प्रकार

1. अन्तर्यच्छु जिघांसन्तो वज्रमिन्द्राभिदासतः ।

दासस्य वा मध्वन्नार्यस्य वा सन्त्युक्त्या वधम् ॥ ऋ0 10, 102, 3

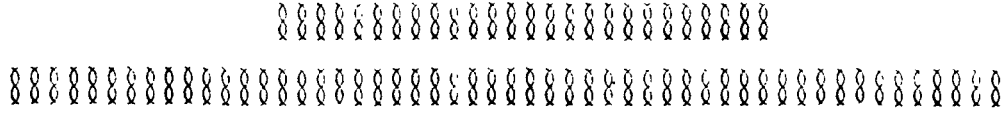
2. प्रभृन् दुर्मतीनामिन्द्र ..... ऋ0 8, 46, 19

की परिशुद्ध स्थिति में नीति की सम्भावना अधिक होती है । देवताओं द्वारा प्रेरित मनुष्य नैतिक कार्यों के प्रति स्वतः उन्मुख होता है ।

अन्ततोगत्वा देवता दण्ड अथवा निषेध के द्वारा भी नीति की स्थापना करते हैं । वे ईर्ष्यालु, निन्दक, पापी, अभिचारी तथा व्याज भोगी को दण्डित करके यह स्पष्ट करते हैं कि ये कार्य अनैतिक है, अतः इन्हें नहीं करना चाहिए । जो मनुष्य उनका अनुपालन नहीं करता है वह दण्डित होता है। दण्ड अथवा निषेध के द्वारा वे मनुष्यों को नैतिकता का सन्देश देते हैं ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि देवता मनुष्यों के समक्ष आदर्श उपस्थापित करते हैं, उन्हें नैतिकता के लिए प्रेरित करते हैं तथा दण्ड द्वारा नीति का समर्थन कर उसका प्रस्ताव रखते हैं । इस प्रकार वे प्रत्येक रूप से मनुष्यों को नैतिक बनाने का प्रयास करते हैं । उनके ये प्रयास मनुष्यों के लिए दिव्यादर्श के रूप में अनुकरणीय हैं ।





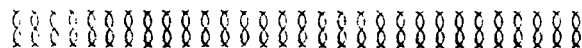
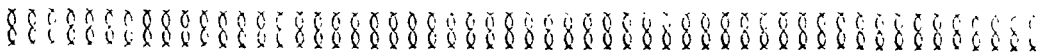
## षष्ठ अध्याय

=====

### नैतिकता के आर्ष आदर्श

-----

- 6.1. त्याज्य
  - 6.1.1. पाप
  - 6.1.2. पाप के क्षेत्र
  - 6.1.3. पापी
  - 6.1.4. द्रोह एवं असत्य
  - 6.1.5. चोरी
  - 6.1.6. अपयश
  - 6.1.7. अज्ञान
- 6.2. तृहणीय
  - 6.2.1. निष्पापत्व
  - 6.2.2. पाप मुक्ति के उपाय
  - 6.2.3. आदर्श जीवन
  - 6.2.4. ज्ञान
  - 6.2.5. मधुर वाणी
  - 6.2.6. शक्ति
- 6.3. करणीय
  - 6.3.1. अनाचार की समाप्ति
  - 6.3.2. दान
  - 6.3.3. सत्यवादिता
  - 6.3.4. विनय
  - 6.3.5. अतिथि सेवा
  - 6.3.6. लक्ष्य



### षष्ठ अध्याय

=====

### नैतिकता के आर्ष आदर्श

=====

प्रत्येक समाज की यह आकांक्षा होती है कि उसके घटक व्यक्तियों के सम्बन्ध पूर्णतया स्वस्थ रहें जिससे वह कम से कम संघर्ष वाले मार्ग से समस्त व्यक्तियों की सुविधा, पारस्परिक सद्भाव तथा सुन्दरता को दृष्टि में रखते हुए तीव्र गति से सामाजिक सुख एवं शान्ति के लक्ष्य पर पहुँच सके । इसलिए वह कृत्रिम व्यवहार-नियम तथा आचार-नियम बनाता है । वह निर्धारित करता है कि किस परिस्थिति में क्या करणीय है तथा क्या अकरणीय । इन नियमों के साथ वह क्रमशः प्रशंसा तथा निन्दा जोड़ देता है ।

परन्तु सामाजिक नियम समाज के साथ ही अथवा उससे पूर्व ही क्षीण हो जाते हैं । सांसारिक नियम अथवा वस्तुएँ मनुष्यों के चतुर्मुखी विकास के हेतु सार्थक नहीं हैं । मर्त्य के अन्दर अमर्त्य भी विद्यमान है । क्योंकि सांसारिक नियम मर्त्य के द्वारा मर्त्य के लिए बनाये जाते हैं अतः मनुष्य की अन्नरात्मा उनसे सन्तुष्ट नहीं हो पाती, जिसके परिणाम स्वरूप अराजकता अथवा अनैतिकता का मेल समाज एवं व्यक्ति को आच्छादित कर लेता है ।

आर्ष मनीषियों ने इस विषम परिस्थिति में ऐसे नैतिक नियमों की आवश्यकता का अनुभव किया जिसमें मानव की कुछ भी साझेदारी न हो तथा जो पूर्णतः विशुद्ध हो । किसी नैतिक नियम को नैतिक दृष्टि से प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए उसमें 'परम' § Absolute § अनिवार्यता होनी चाहिए,

जिसे प्रत्येक प्राणी पालन करने के लिए लाध्य हो ।<sup>1</sup> ऋग्वेद ने उन परम नैतिक नियमों को 'ऋत' पर आधारित बताया है जिसके कारण देवताओं में स्थायित्व, नियमबद्धता तथा निष्पापत्व के तत्त्व विद्यमान हैं । ऋत के अनुगामी देवता अपने आवरण के द्वारा कल्पित नियमों एवं मार्गों को निर्मित करते हैं । उनके ये दिव्यावरण मनुष्य के समक्ष नीति का बहुआयामी स्वरूप प्रस्तुत करते हैं, जिनमें व्यक्ति, समाज तथा संसार का कल्याण निहित है ।

देवता निष्पाप होते हैं अतः उनके लिए नैतिकावरण कोई कठिन कार्य नहीं है, परन्तु मनुष्य के लिए जिसका स्वभाव पापोग्नुही है नीति का पालन करना क्या संभव है ? क्या वह मर्त्य होकर अमर्त्यावरण का अनुपालन कर सकता है ? इन प्रश्नों के उत्तर के लिए वैदिक ऋषियों के जीवन का अध्ययन उपादेय है ।

वैदिक ऋषियों ने जीवन की वास्तविकता से परिचित होकर दिव्य-शक्तियों को अपने कर्मों एवं विचारों का आधार माना । उन्होंने समक्ष विकल्प था कि वे सांसारिक नियमों का चयन करें अथवा दैविक नियमों का, परन्तु उन्होंने विवेक के द्वारा दिव्य जीवन अर्थात् उच्च जीवन के लिए दैविक नियमों को आत्मसात् किया । उन्होंने देवताओं के आचरण को आदर्श रूप में स्वीकार किया ।

देवताओं ने करणीय कार्यों को करें तथा अकरणीय कार्यों की निन्दा अथवा त्याग करके ऋषियों के समक्ष नैतिक तथा जैतिक कार्यों की व्याख्या प्रस्तुत की । ऋग्वेद के ओम् मन्त्रों से यह प्रकट होता है कि ऋषियों ने देवताओं द्वारा निर्दिष्ट मार्गों पर ही अपनी जीवन-यात्रा पूर्ण की तथा

भौतिक एवं आध्यात्मिक सफलता अर्जित की। ऋषियों ने देवताओं के द्वारा प्रतिपादित नैतिकता को तीन प्रकार से ग्रहण किया। उन्होंने कल्पित कर्मों का त्याग किया, कल्पित कर्मों की स्पृहा की तथा कल्पित कर्मों को आवरित किया। इस प्रकार उनके जीवन की नैतिकता तीन प्रकार के कार्यों पर आधारित है - §1§ त्याग, §2§ स्पृहणीय तथा §3§ आवरणीय।

#### 6.1.1. त्याग

इसके अन्तर्गत उन कर्मों अथवा विचारों को समाविष्ट किया जा सकता है जिनका त्याग ही नैतिकता का प्रादुर्भाव है तथा जिन्हें ऋषि अपने जीवन एवं संसार से समाप्त करना चाहता है।

#### 6.1.1.1. पाप

ऋषि के जीवन का सर्व प्रथम नैतिक प्रयास है - पापों से मुक्ति। वह प्रत्येक दशा में निष्पाप रहना चाहता है। पाप में जीवन - यापन करना उसके लिए उद्देक स्थिति है, अतः वह इनके आवर्जन की आकांक्षा करता है।

वह पाप को विविध रूपों में देखता है। निम्नलिखित मन्त्र से ज्ञात होता है कि वह पाप को 'कूप' की भाँति समझता है -

“कूप में पतित 'त्रित' ने रक्षा के लिए देवताओं की स्तुति की, उसे बृहस्पति ने क्षुत्ता एवं वे उसे पाप रूपी कूप से निकाल कर विस्तार की ओर ले गए। हे द्यावा-पृथिवी इसकी सम्पत्ति मुझे प्राप्त हो।”

इस मन्त्र में कहा गया है कि बृहस्पति पाप से निकालकर विस्तार की ओर ले जाते हैं। पाप की भावना में उसी प्रकार संकीर्णता होती है

1. त्रितः कूपेऽवहितो देवान्हेवत ऊत्तये ।

तच्छुभावा बृहस्पतिः कृण्वन्महूरणादुरु त्रितं मे अस्य रोदसी ॥

जैसी कि कूप में होती है । अतः पाप में गिरना कूप-पतन के समान है । कूप अपनी गहराई एवं संकीर्णता के कारण 'अवेत्स' अथवा 'अविद्या' का प्रतीक हो सकता है । जिस प्रकार अवेत्स में पतित वान्तादि का निष्कान्त कठिन होना है, उसी प्रकार अवेत्स अथवा अविद्या रूपी पाप में पतित व्यक्ति का उन्नत होना भी ।

पाप के विषय में ऋषि अन्यत्र कहता है कि "हे वरुण ! मैं पाप के बन्धन में रस्ती के समान बँधा हूँ, उससे मुझे मुक्त करो । हम तुम्हारे द्वारा नदियों को जल से पूर्ण करें । हमारे बुत्ते का तन्तु कभी न टूटे, हमारे कर्म पूर्ण होने से पूर्व हमारे शरीर जीर्ण न हों ।"

इस मन्त्र में ऋषि ने पाप को एक बन्धन के रूप में कल्पित किया है । जिस प्रकार बन्धन स्वतन्त्रता को समाप्त कर देता है उसी प्रकार पाप से आबद्ध जीवन भी संकुचित हो जाता है एवं संकुचन जीर्णता अथवा पारायण की ओर ले जाता है । जहाँ स्वतन्त्रता नहीं वही दुःख है । अतः पाप स्वतन्त्रता समाप्त करने वाला दुःखद बन्धन है ।

उपर्युक्त अवधारणा की पुष्टि एक अन्य मन्त्र के द्वारा भी होती है, जिसमें कहा गया है कि "हे अग्नि ! तू पूज्य एवं निवास से युक्त हो । तूने जिस प्रकार पैरों से बँधी हुई गाय की रक्षा की थी, उसी प्रकार हमको पाप से रक्षित करो । हे अग्नि ! हमारी आयु तुम्हारे द्वारा बढ़ाई गई है, तू इसे और भी बढ़ाओ ।"<sup>2</sup> यहाँ उपमा द्वारा पाप को बन्धन कहा जा रहा है । यह शरीर तथा मन दोनों ही को बाँध देता है, जिसके कारण मानसिक

1. वि म० क० ध्याय र० श्रुतामिवागं क० ध्यायं मे वरुण० खामृत्स्य ।

मा तन्नु० छेदि व्य० त्ते धियं मे मा मात्रा शौर्यपसः पुर० श्रुतो : ॥ ५02, 23, 5

2. यथा ह० त्वद्व० स्वो गौर्यं चित्पदि षि० ताममु० वता यजत्रा : ।

एवो ष्व० त्स्मन्मु० वता व्य० हः प्र० तौर्यग्ने प्र० तरं न० आयुः ॥ ५04, 12, 6

न्या शारीरिक दोनों ही विकार अवलू हो जाते हैं । पाप के कारण आयु का क्षय हो जाना है । देवता निष्पाप हैं, अतः वे आयु-वर्धन में समर्थ हैं । ऋषि भी अपने जीवन का विस्तार चाहता है परन्तु पाप उसकी इस आकांक्षा में बाधा स्वरूप है, जिसका निवारण उसे इष्ट है ।

अधोलिखित मन्त्र के द्वारा यह ज्ञान होना है कि ऋषि के लिए पाप एक बाह्य तत्त्व है - "माना के समान जल हमें पवित्र करें, घृत रूपी जल मल का शोधन करें, जल-देवियाँ हमारे समस्त पाप रूपी लेप को बहा लें । इनके द्वारा पवित्र किया जाना हुआ मैं ऊपर की ओर जाता हूँ ।" <sup>1</sup> जिस प्रकार जल समस्त कल्मष को प्रक्षालित कर देता है, उसीप्रकार यहाँ पापों के भी प्रक्षालन की बात कही जा रही है । वस्तुतः ऋषि पापों को बाह्य तत्त्व के रूप में गृहीत करता है । उसकी मान्यता है कि जिस प्रकार लेप शरीर के बाहर लगता है उसी प्रकार पाप भी भीतर प्रविष्ट नहीं होता । किन्तु इसका यह तात्पर्य उदापि नहीं कि पाप भीतर प्रविष्ट नहीं होता । वस्तुतः ऋषि पाप की प्रत्येक सम्भावना पर विचार करता है । पाप जहाँ और जिस रूप में भी हो, ऋषि के लिए वह पाप ही है । अतः उसका यहप्रत्यय पूर्णतः नर्तमान है कि शारीरिक कल्मषता को यदि जल प्रक्षालित कर सकता है तो पाप जो कि लेप तुल्य है, उसे भी जल द्वारा धोया जा सकता है । ऋषि ने जल को 'देवियाँ' कहकर सम्प्रेषित किया है, जिससे प्रतीत होता है कि वह साधारण जल न होकर दिव्य-प्रवाह है, जिसमें निमज्जन करने से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं । इस दिव्य प्रवाह में निमज्जित व्यक्ति ही उन्नत हो सकता है ।

ऋग्वेद के उपर्युक्त विचार कालान्तर में 'गंगा स्नान के द्वारा पाप-मुक्ति, के रूप में विकसित हुए । वस्तुतः 'गंगा' भी धर्म के प्रवाह की प्रतीक है । <sup>2</sup>

1. आपो अस्मान्मातरः शुन्ध्यन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु ।

विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवैरुज्जिताभ्यः शुचिरा पूतमि ॥ २०।०, १७, १०

2. डा० राधाकृष्णन्, धर्म और दर्शन, पृ० १३१

ऋषि पाप को शत्रु ने उपमित करते हुए कहता है - "हे अग्नि ! तुम्हारा सुरक्षाओं के द्वारा तथा मित्र की प्रशस्तियों के द्वारा, द्वेषयुक्त शत्रु को भोगे पार किया जाता है। सी प्रकार मनुष्यों के जो दुष्कर्म हैं, हम उन्हें पार करे जायें ।"<sup>1</sup>

ऋषि की धारणा है कि वह मर्त्य है फलतः उसने दुष्कर्म किये होंगे । वह दुष्कर्मी को शत्रु के समान समझता है । अतः वह चाहता कि जिस प्रकार शत्रुओं को समाप्त करने में देवता सहायक होते हैं उसी प्रकार पाप रूपी शत्रुओं को भी वे समाप्त करें । यह पाप किसी ऋषिविशेष का नहीं प्रत्युत मरन मानवता का शत्रु है । अतः पाप रूपी शत्रु ने जोन मनुष्य सुरक्षित नहीं रहना चाहेगा ?

ऋषि पाप को एक अन्य वस्तु से उपमित करते हुए कहता है - "हे अग्नि ! यदि दुश्चरित्र व्यक्ति हमारा वध करने के लिए हमें अपने शस्त्र का लक्ष्य बनाना है तो उससे एवं पाप से हमें दूर करो ।"<sup>2</sup> यहाँ ऋषि ने पाप को घातक अस्त्र के समान कल्पित किया है । उसके लिए पाप उन्मा ही घातक है जितना कि दुश्चरित्र का घातक अस्त्र । दुश्चरित्र के घातक अस्त्र ने तो मात्र भौतिक क्षति हो सकती है किन्तु पाप के घातक अस्त्र से भौतिक क्षति के साथ ही नैतिक अथवा आध्यात्मिक क्षति भी होती है ।

ऋषि के जीवन में भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार की उन्नति का महत्त्व है । जो भी इन दोनों में उन्नति प्रकारों में बाधा बनता है उसे वह समाप्त करने की चेष्टा करता है ।

1. त्वग्निमग्नि अतिभिर्निर्वृत्य प्रशस्तिभिः ।

द्वेषोयुनो न दुरिता त्वाम् मर्त्यानाम् ॥ ५० 5,9,6

2. यो नो अग्ने दूरेव आ मर्तो वधा दाशति । तस्मान्न पाह्यहन्तः ॥

एक श्रुति से ज्ञान होता है कि ऋषि के लिए पाप एक दुर्गम मार्ग के समान है।<sup>1</sup> जिस प्रकार पथिक दुर्गम-मार्ग का परित्याग कर देता है, उसी प्रकार ऋषि भी पाप रूपी दुर्गम मार्ग को त्यागना चाहता है। नैतिक मार्ग भी कठिन होते हैं<sup>2</sup> किन्तु उन पर चलना विनाशकारी नहीं होता एवं उनका गन्तव्य होता है - देवत्व। इससे विपरीत औन्निक मार्ग न केवल कठिन होते हैं अपितु पतनोन्मुखी भी। उनका गन्तव्य होता है राक्षसत्व।

उन तथ्यों से ज्ञान होता है कि ऋषि पाप के स्वरूप को सुगम बनाने के लिये उसको जीवन के निकट की वस्तुओं से उपमिन करता है। क्रूष, कल्मष, अस्त्र तथा दुर्गम मार्ग आदि इसके उदाहरण हैं। इन वस्तुओं के सम्पर्क में रहने के कारण सामान्य जन भी इनसे सुपरिचित होता है। अतः उन्हें पाप को समझना कठिन नहीं होगा। किसी वस्तु का त्याग करने के लिये उसके स्वरूप को जानना आवश्यक होता है। इस दृष्टि से उसी ये उपमाएँ प्रशंसनीय हैं।

ऋषि की धारणा है कि स्वरूप की दृष्टि से पाप में विविधता हो सकती है, किन्तु अपने मूल में वह एक ही है। उनका एक मात्र कार्य है - औन्निकता को जन्म देकर विनाश करना।

वैदिक ऋषि विनाशकारिणी तन्त्रों के प्रति तजग है। वह अपने कृत्यों को यन्त्रवत् उपेक्षित नहीं कर देता प्रत्युत बौद्धिक प्राणी होने के कारण वह उन पर विचार करता है, क्योंकि उपेक्षित वस्तुएँ जीवन से समाप्त न होकर अवचेतन का अंग बन जाती हैं। अतः वह अपने जीवन से पाप की सम्पूर्ण सम्भावनाओं को समाप्त करने के लिये तत्पर है।

1. परिणो वृणजन्नुधा दुर्गाणि रथ्यो यथा ।

स्थामेदिन्द्रस्य शर्मण्यादिद्यानामुत्तावस्यनेहतो व ऊन्यः सुऊन्यो व ऊन्यः

शु 3, 47, 5

2. उन्निष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत ।

क्षुरत्य धारा निशिना दुःखया दुर्गं पथस्तत् क्वयो वदन्ति ॥ उपनिषद् 3/14



### 6.1.2. पाप के क्षेत्र

आधुनिक समय में आत्मीय जनों के साथ किया गया दुर्व्यवहार अथवा पाप हेय दृष्टि से नहीं देखा जाना । परन्तु ऋषियों की समीप 'स्व' और 'पर' की श्रेणियाँ नहीं थीं । उनकी दृष्टि में समस्त प्राणी समान हैं ।

ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों से यह ज्ञात होता है कि ऋषि प्राणियों के प्रति किये गए पापों को हेय एवं गहिर्त समझता है । उक्त अवधारणा का दर्शन इस मन्त्र में होता है - "हे द्यावा-पृथिवी ! देवताओं के लिये , मित्र के लिये तथा दामाद के लिये हमने जो कुछ पाप किये हों उन्हें दूर करने के लिये मैंने जो मन्त्र उच्चारित किया है वह उन्हें दूर करें, इस क्षुद्रता से द्युलोक तथा पृथिवी रक्षा करें ।"<sup>1</sup> यहाँ पाप को एक क्षुद्र व्यापार के रूप में कल्पित किया गया है । ऋषि देवताओं के साथ ही आत्मीय जनों के प्रति भी किये गए पापों के प्रति सचेत है । यज्ञ न करना, ऋत का पालन न करना इत्यादि देवताओं के प्रति किया गया एवं नैतिक उत्तरदायित्व का वहन न करना मनुष्यों के प्रति किया गया पाप हैं । पाप रूपी क्षुद्रता आत्मिक विकास में बाधा स्वरूप है । इस बाधा रूपी संकीर्णता से वही मुक्त कर सकता है जो स्वयं विस्तृत हो । ऋषि ने इस विस्तार को द्यावा-पृथिवी में प्राप्त किया तथा उनसे ही पाप-मुक्त होने की प्रार्थना की । इस मन्त्र से यह भी स्पष्ट होता है कि देवता उसी को पाप-मुक्त करते हैं जिसकी बुद्धि इसके लिये तत्पर होती है । ऋषि का मन्त्रोच्चारण इसका प्रमाण है ।

ऋषि अन्यत्र कहता है - "हे वरुण ! हमने सदैव शिष्टजन के प्रति मित्र एवं सखा के प्रति, भाई के प्रति, प्रतियोगी के प्रति अथवा कृपण के प्रति जो

1. देवान्वा यच्चैकमा कच्चिदामः सर्वायं वा सदमिज्जास्पतिं वा ।

इयं धीर्भूया अयानमेषां द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अवात ॥ ऋ01, 185, 8

कुछ पाप किया हो उसे तुम क्षिप्र कर दो ।<sup>1</sup> यहाँ पाप को बन्धन के रूप में कल्पित करके उसे क्षिप्र करने को कहा जा रहा है । इस मन्त्र में आत्मीय जनों के साथ ही पड़ोसी एवं कृपण व्यक्ति के प्रति किये गए पापों के विषय में भी कहा गया है । इसे निष्कर्ष निकलता है कि पड़ोसी एवं कृपणता जैसी दुर्वृत्ति वाले व्यक्तियों के प्रति भी पाप नहीं करना चाहिए प्रत्युत उनके साथ भी सद्व्यवहार करना नीति का पालन करना है ।<sup>2</sup>

आर्ष नैतिकता किन्ती विलक्षण एवं व्यापक है । इसका दर्शन अधोलिखित मन्त्र में प्राप्त होता है - "हे गायों ! तुम सन्तानवती बनो , सुन्दर घास खाओ तथा सुख-प्राप्य तालाबादि का स्वच्छ जल पीओ । तुम्हारा स्वामी चोर न हो , पापी अथवा निन्दक तुम्हारा शासन न करे, रुद्र का आयुष्य तुमसे दूर रहे ।"<sup>3</sup> ऋषि के नैत्तिकाचरण का क्षेत्र मानव जीवन तक ही मर्यादित नहीं है अपितु वह पशुओं के साथ भी क्रियान्वित है । वास्तविकता यह है कि ऋषि ने ऋत को आत्मसात् किया है, फलतः उसकी चेतना नैतिकता से अनुस्यूत हो गयी है । जैसा विचार होना है वैसा ही आचरण भी । क्योंकि ऋषि चेतना अथवा विचार के तल पर नीति को सम्पुर्णित किये हुए है अतः उसके आचरण नित्य नीति-सम्मत होते हैं । उसके लिये देवता, मनुष्य, आत्मीय एवं अनात्मीय जन तथा पशु विशिष्ट भूमिका पर पहुँचकर अभिन्न हो जाते हैं । इनके प्रति किया गया कर्म ही निस्तार का साधन है । वह चोरी तथा निन्दा को पाप मानकर इनके परित्याग का अनवरत प्रयास करता है । वह नहीं चाहता कि इसप्रकार का पाप पशुओं के प्रति भी किया जाय ।

1. अ० अ० व० मि० व० सरवायं व० सदमिद्भ्रातरं व० ।

वैशं व० नित्यं व० व० यत्सीमागश्चकृमा शिश्रुस्तत् ॥ ऋ05,85,7

2. "तुम उसे भी प्रेम करो जो तुमसे प्रेम नहीं करता ।" कुरआन, आले-इमरान, 119

3. प्रजावतीः सूयवसं रिशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः ।

मा वः स्तेन ईशत माघशंसः परि वो हेती रुद्रस्य वृज्याः ॥ ऋ0 6,28,7

उक्त प्रकट पापों के अतिरिक्त वह उन पापों के प्रति भी सचेत है जो अकट है अर्थात् जो अवचेत्न में निहित है अथवा जिन्हें वह विस्मृत कर चुका है।<sup>1</sup> प्रत्यक्ष पापों को समाप्त करना दुष्कर नहीं होता किन्तु जिनकी जड़ अवचेत्न के गहन तम में प्रविष्ट हों उन पापों को उन्मूलित करना सरल नहीं होता। अतः इस कार्य के लिये वह देवताओं की सहायता लेकर अव्याहत प्रयास करता है। सच्चा प्रयास निष्फल नहीं हुआ करता। नैतिक मार्ग पर प्रयास रूप में उठा प्रथम पग लक्ष्य तक पहुँचाने वाले अन्तिम पग का आधार बनता है।

#### 6.1.3. पापी

बाइबिल का आदेश है कि पाप को समाप्त करना चाहिए पापी को नहीं।<sup>2</sup> परन्तु श्विषे इसके विपरीत कहता है कि "हे अग्नि ! पापी मनुष्य से हमारी रक्षा करो चाहे वह दूर हो अथवा निकट।"<sup>3</sup> इस मन्त्र में पापी से ही सुरक्षित रहने की कामना है।

इसके अतिरिक्त एक श्रुति में सुन्दर उपमा के माध्यम से कहा गया है - "पक्व मन से विवरण करने वाले मुझे जो असत्य वचनों के द्वारा देखता है अथवा कुछ कहता है, मुट्ठी में पकड़े हुए जल की भाँति है इन्द्र ! असत्याचारी को तू अस्तित्वहीन कर दो।"<sup>4</sup>

1. यदा विर्यदपीच्यं देवासो अस्ति दुष्कृत्स्नः ।

त्रिते तद्विश्वमाप्त्य आरे अस्मद्दधात्मानेहसो व ऊन्यः सुऊन्यो व ऊन्यः ॥

श्रु 8, 47, 13

2. Hate the sin, not the sinner

3. स नो दूराच्चासाच्च नि मर्त्यादधायोः षीष्टमिदमिद्विश्वायुः ॥ श्रु 01, 27, 3

4. यो मा पाकेत् मनसा वरन्तमभिषण्टे अमृतेभिर्वक्त्रोभिः ।

आप इव काशिना संगृहीता अन्नस्त्वासेत इन्द्र वक्ता ॥ श्रु 07, 104, 8

उक्त मन्त्र में भी पापी को ही समाप्त करने की प्रार्थना की गई है। वस्तुतः ऋषि की धारणा है कि पाप की अपनी अलग सत्ता नहीं होती है, वह व्यक्ति साथ गहन रूप से सम्बद्ध होता है। व्यक्ति कारण होता है तथा पाप कार्य। ऋषि कारण को भी समाप्त करना चाहता है एवं कार्य को भी।

परन्तु कारण को समाप्त करने का उसका यह विधान अधिक नैतिक एवं मनोवैज्ञानिक है। जीवन का मूल्य मृत्यु के कारण ही है। यदि व्यक्ति को अपने दुष्कर्मों के कारण मृत्यु का आलिंगन करना पड़े तो वह ऐसे कर्म नहीं करेगा। पापियों को दिया गया दण्ड जन-मानस को यह विश्वास दिला देता है कि पाप का परिणाम मृत्यु है। अतः दण्ड मानवीय बुद्धि को प्रभावित करते हैं एवं उनसे प्रेरित होकर मनुष्य पुण्य कर्मों के प्रति उन्मुख होता है। बाइबिल का उक्त सिद्धान्त भी नीति-संगत है एवं ऋग्वेद का भी, क्योंकि प्रथम सिद्धान्त कार्य से कारण की ओर चलता है तथा द्वितीय कारण से कार्य की ओर। दोनों का ही उद्देश्य है पापों को समाप्त करना।

प्रस्तुत सन्दर्भ में ऋषि का कथन है - "हे बृहस्पति ! हम तुम्हारा हृदय में आह्वान करते हैं, तुम हमें चोर, विद्रोही, स्वच्छन्दवारी, हिंसक, परधनाकांक्षी, देव-विमुख एवं सामगान से रहित व्यक्ति का मत देना।"। इस ऋचा में भी पापी के रूप में चोर, विद्रोही, उद्दण्ड, हिंसक, लोभी एवं नास्तिक व्यक्तियों के विषय में कहा जा रहा है। ऋषि बाह्य पापियों से सुरक्षित रहने के लिये अपने हृदय में नीति का आह्वान करता है, क्योंकि आन्तरिक सुदृढ़ता ही बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा प्रदान करने में समर्थ होती है।

1. मा नः स्तेभ्यो ये अभि द्रुहस्पदे निरामिणो रिपवोऽन्नेषु जागृधुः ।

आ देवानामोहते वि त्रयो हृदि बृहस्पते न पुरः साम्नो विदुः ॥

वैदिक ऋषियों के समीप पाप को उसके समस्त रूपों में समाप्त करना इष्ट है । अतः जब वह पाप को अर्थात् पाप-भावना को देखता है तो उसे भी नष्ट करने का प्रयत्न करता है तथा जब वह पाप को मूर्तरूप में अर्थात् पापी को देखता है तो उसे भी समाप्त करने का प्रयास करता है ।<sup>1</sup> पाप अमूर्त रूप में हो अथवा मूर्त रूप में उसके लिये वह सर्वथा हेय है ।

#### 6.1.4. द्रोह एवं ऋत्यु

ऋषि पापियों एवं पापों का त्याग करने के पश्चात् उन्हीं के अन्य रूपों को भी अपने जीवन से बाहर निकाल देना चाहता है । इस विषय में उसकी उक्ति द्रष्टव्य है - "हे जल ! जो कुछ मुझमें पाप है उसे तुम बहाओ, यदि मैंने कोई द्रोह किया हो ॥ अथवा ॥, यदि मैंने कोई झूठा शाप दिया हो तो उसे भी तुम दूर करो ।"<sup>2</sup> प्रस्तुत मन्त्र में द्रोह एवं ऋत्यु वचन को दूर करने की इच्छा व्यक्त की गई है । ऋत के मार्ग का उल्लंघन ही द्रोह है । यह द्रोह देवताओं, मनुष्यों, पशुओं अथवा स्वयं के प्रति भी हो सकता है । नैतिक नियमों का अतिक्रमण करके स्वच्छन्द विवरण करने वाला द्रोही होता है । उक्त दोनों प्रकार के कल्मषों का प्रक्षालन ऋषि को अभिप्रेत है । उसकी धारणा है कि जिस प्रकार वस्त्र पर मलिनता बाहर से आकर वस्त्र से एकी भूत हो जाती है जिसे धोकर स्वच्छ किया जा सकता है, उसी प्रकार आवरण पर आरोपित पाप अथवा अनैतिकता भी सम्पुंजित हो जाती है तथा उसे भी प्रक्षालित किया जा सकता है । वास्तविकता यह है कि कल्मष वस्त्र नहीं बन सकता एवं पाप व्यक्ति नहीं ।

1. त्वं नः पाह्यं हंसो दोषावस्तरघायतः । दिवो नवत्पदाभ्य ॥ ऋ0 7,15,15

2. इदमाप्ः प्र वहत यत्किं व दुरित्मयि ।

यद्वाहमभिद्रोह यद्वा शेष उन्नानृत्म् ॥ ऋ0 10,9,8

आर्ष मनीषा मानसिक असत्यता की भी निष्कृति चाहती है । इसका प्रमाण इस मन्त्र से प्राप्त होता है - "हे राज्ञ वरुण ! जो मेरा किसी प्रकार का सम्बन्धी हो अथवा मित्र हो, मुझे भीरु के स्वप्न में भी उसने यदि कोई बात कह दी हो अथवा जो चोर मुझे दमित करना चाहता हो अथवा जो भेड़िया मुझे मारना चाहता हो उन सब से मेरी रक्षा करना ।" ऋषि पापों के प्रति किन्ता सचेत है इसका उदाहरण उपर्युक्त मन्त्र में देखा जा सकता है । वह देवत्व के प्रति किसी अशिष्ट शब्द का प्रयोग नहीं करता है तथापि उसका कोई मित्र वह भी स्वप्न में, यदि किसी अशिष्टता का व्यवहार कर गया हो तो वह अवेत्त में घटित उस दुर्व्यवहार के लिये भी क्षमा-याचना करके उससे सुरक्षित रहना चाहता है । मनुष्य का व्यक्तित्व उसके अवेत्त के द्वारा भी निर्धारित होता है । अतः आचरण को पापमुक्त रखने के लिये अवेत्त की शुद्धता आवश्यक है ।

#### 6.1.5. चोरी

वैदिक काल में भी चोरी का प्रचलन था, जिसके परिणामस्वरूप समाज में अनुरक्षा का भय व्याप्त होता था । किन्तु ऋषि ने समाज के इस अभिशाप के विरुद्ध वाणी मुखर की और कहा - "हे अश्विद्वय ! तुम विस्तृत धन देते हो । हमारी रक्षा करो तथा पाप कर्म वाले चोरों से हमें बचाओ ।"<sup>2</sup> यहाँ चोरी को स्पष्टतः पाप की संज्ञा दी गई है । अतः चोर पापी हुआ और ऋषि का संकल्प है कि वह पाप को अपने जीवन में प्रविष्ट नहीं होने देगा । इसीलिये वह देवत्व की सहायता से प्रत्येक कदर्यता को छिन्न - भिन्न कर देना

1. या मे॑ राज॒न्यु॒ज्यो॑ वा॒ सखा॑ वा॒ स्वप्ने॑ भूय॑ भी॒रु॑ मह्य॒मोह॑ ।

स्तेनो॑ वा॒ यो दि॒प्स॑न्ति नो॒ वृजो॑ वा॒ त्वं तस्मो॑द्वरुण॑ पा॒ह्य॒स्मान् ॥

ऋ० 2, 23, 10

2. यु॒त्रं ह्या॒स्तं॑ म॒हो र॒न्यु॒तं वा॒ यन्नि॒रत॑त्स॒त्सम् ।

ना नो॑ व॒सू सु॒गो॒पा स्या॑त॒ पातं॑ नो॒ वृका॑दघा॒योः ॥ ऋ० 1, 120, 7

चाहता है । पाप हो अथवा पापी दोनों का संग उसे अवांछनीय है ।<sup>1</sup>

#### 6.1.6. अपयश

वैदिक ऋषि अपने जीवन को नैतिक बनाने के लिये देवताओं का अनुसरण करता है । देवता अपयश एवं निन्दा से रहित होते हैं । अतः वह भी अपयश की तमिज्ञा में अपने जीवन को क्लीन करना नहीं चाहता । वह सोम से प्रार्थना करता है - "हे सोम ! हमको अपयश से बचाओ, पाप से हमारी रक्षा करो, तू हमारे लिये रक्षकारी मित्र बनो ।"<sup>2</sup> अपयश का प्रमुख कारण होता है नैतिक आचरण । यदि मनुष्य नैतिक है एवं अपने जीवन को पवित्र रखता है तो उसे प्रशंसा प्राप्त होती है । अतः ऋषि का अपयश से सुरक्षित रहना प्रकारान्तर से नैतिक आचरण से सुरक्षित रहने की आकांक्षा का एक रूप है ।<sup>3</sup>

#### 6.1.7. अज्ञान

आर्य मत में पाप अज्ञान के कारण घटित होते हैं । अतः अज्ञान को समाप्त करना आवश्यक है । इस सम्बन्ध में उसके विचार द्रष्टव्य हैं - "हे अग्नि ! मुझसे अविवेकिता को दूर करो, पाप को दूर करो, दुर्मति को दूर करो । हे शक्ति-पुत्र अग्नि ! तू जो रात्रि के समय कल्याणकारी हो, हमारे कल्याण के लिये जो तू साथ देते हो तो हमसे इन्हें दूर करो ।"<sup>4</sup> यहाँ 'रात्रि'

1. दुराचारी दुरादृष्टिः दुरावासी च दुर्जनः ।

यन्मैत्री क्रियते पुंसां स तु शीघ्रं विनश्यति ॥ वाणक्य नीति दर्पण, 2/19

2. उरुष्या णो अभिशस्तेः सोम नि पाह्यंहसः । सखा सुशेव एधि नः ॥

ऋ0 1, 91, 15

3. नह किमावरणं यत्र वाच्यता मायषव्यवहारो वा । नीन्वाक्यामृन्म्, 27/16

4. आरे अस्मदमैतिमारे अहंआरे विश्वां दुर्मतिं यन्निपानि ।

दोषा शिवः सहसः सूनो अग्ने यं देव आ चित्सवसे स्वस्ति ॥ ऋ04, 11, 6

का अभिप्राय अज्ञान के अन्धकार से है। इस अन्धकार को केवल प्रकाश के द्वारा दूर किया जा सकता है।<sup>1</sup> देवता ज्योति स्वरूप है तथा अग्नि उनमें विशिष्ट है। अतः उनसे ही प्रार्थना की गई है। ऋषि ने 'अमति' तथा 'दुर्मति' के साथ ही 'अंह' शब्द का प्रयोग करके यह प्रकट किया है कि तीनों में तारतम्य है। इस कारण वह पाप के मूल कारण अज्ञान को अपने जीवन से पृथक् करना चाहता है। यहाँ उल्लेखनीय है कि बुद्ध ने भी दुःख के बारह कारणों में से अज्ञान को भी एक कारण बताया है।<sup>2</sup>

प्रतिपादित तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि आर्ष-जीवन निष्पाप जीवन था, अतः ऋषि ने अपने आन्तरिक एवं बाह्य पापों को व्यक्त कर ही नैतिकता के अजिर में पदार्पण किया था। इससे स्पष्ट होता है कि नैतिकता के लिये कल्पित बातों का त्याग आवश्यक है।

## 6.2. स्पृहणीय

इसके अन्तर्गत उन तत्त्वों का विवेक करना अभीष्ट है, जिनकी ऋषि, अपने तथा संसार के लिये स्पृहा करता है। ये वे तत्त्व हैं जिनके अभाव में व्यक्ति नैतिक नहीं हो सकता है।

### 6.2.1. निष्पापत्व

इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि ऋषि पाप से मुक्त होना चाहता है। परन्तु वह ऐसी इच्छा क्यों करता है? इस समस्या का समाधान भी नैतिक दृष्टि से उपादेय है।

1. अदिते मित्रं वरुणोत्तमं यद्वो व्यं वसूमा कच्चिदागः ।

उर्वश्यामभयं ज्योतिरिन्द्र मा नो दीर्घा अभि नेशन्तमिम्रा : ॥ ऋ02,27,14

2. बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ0 122



एक मन्त्र में कहा गया है - "हे बृहस्पति ! हमको सुख दो ।  
 तू मनुष्यों के रोग तथा भयों का निवारण करते हो, हम वही चाहते हैं ।  
 हे सुन्दर दानी, निवास करने वाले देवताओ ! रथ को लक्ष्मीर्ण पथ से निकालने  
 के समान पापों से हमको निकालो ।"<sup>1</sup> उक्त मन्त्र में रोग तथा भयों के निवा-  
 रण के उपरान्त ही सुख प्राप्ति की बात कही गई है । ऋषि के लिये पाप भी  
 एक प्रकार का रोग है । जब तक व्यक्ति इससे ग्रसित है तब तक सुख-प्राप्ति  
 असम्भव है । रोग यदि शरीर को नष्ट कर सकता है तो पाप द्वारा संभावित  
 हानि की कल्पना भी नहीं की जा सकती । अतः दुःखों के निवारण के हेतु  
 पापों का क्षय आवश्यक है । इसीलिये ऋषि पाप रूपी रोगों से उन्मुक्त होकर  
 पूर्णतः स्वस्थ एवं सुखी रहना चाहता है ।

अतः कहा जा सकता है कि पाप से दुःख उत्पन्न होता है एवं  
 दुःख किसी को अभिप्रेत नहीं होता । अतः दुःखों से मुक्त होने के लिये ही  
 ऋषि निष्पाप होना चाहता है ।<sup>2</sup>

वह अन्यत्र कहता है - "हे देवगण ! मुझ गिरे हुए को उन्नत  
 करो । मुझ अपराधी को अपराध मुक्त करो । हे देवताओ ! मुझ उपासक की  
 आयु को दीर्घ करो ।"<sup>3</sup> ऋषि पत्न-स्थल से उठकर सन्मार्ग पर चलना चाहता  
 है, जिसके लिये पापमुक्त होना आवश्यक है । जीवन तो तृणावत् होता है,<sup>4</sup>

1. बृहस्पते सदमिन्नः सुगं कृष्टिं शं योर्यत्ते मनुर्हितं तदीमहे ।

रथं न दुर्गाद्विषवः सुदानवो विश्वेत्मान्नो अहंसो निष्पिपत्त ॥ ऋ01,106,5

2. दुःखत्रयाभिधाताभिज्ञासा तदपघात के हेतौ । सांख्यकारिका, ।

3. उत देवा अविहितं देवा उन्नयथा पुनः । उतागश्चक्रुष देवा देवा जीवयथा पुनः ॥

ऋ0 10,137,1

4. तृणस्कन्दस्य नु विशः परिवृड्क्त सुदानवः । उर्वान्नः कर्त जीवसे ॥

ऋ0 1,172,3

तथा

.....।

सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥ कठोपनिषद् 1/6

जो पाप रूपी झंझावात से कभी भी विशीर्ण हो सकता है । अतः ऐसी विषम परिस्थिति में जीवन के सातत्य को बनाये रखने के लिये जीवन-ग्राह्य शक्ति का होना आवश्यक है, क्योंकि यदि वृन्त अशक्त होगा तो तृण भी अक्लिम्ब असृत हो जायेगा ।

ऋषि की मान्यता है कि उक्त शक्ति निष्पाप रहकर ही प्राप्त की जा सकती है । मनुष्यों के वास्तविक सहायक देवता ही हैं और उनकी सहायता उसे ही प्राप्त होती है जो निष्पाप होता है ।<sup>1</sup> अतः देवताओं की सहायता एवं उन्नत जीवन के लिये भी ऋषि पापों से मुक्ति चाहता है ।

एक अन्य मन्त्र से ज्ञात होता है कि पापी न तो देवताओं का सान्निध्य प्राप्त कर सकता है तथा न ही संसार को पूर्णतः भोग सकता है ।<sup>2</sup> अतः देवताओं का प्रिय बनने तथा उनसे नैकट्य स्थापित करने के लिये ऋषि पापों का विवर्जन चाहता है एवं तदनन्तर संसार की प्राप्ति की इच्छा करता है । उसके मत में दैविक शक्ति के अभाव में भौतिक विभूति निम्न है ।

#### 6.2.2. पाप-मुक्ति के उपाय

यह तो स्पष्ट है कि ऋषि पापों को अपने जीवन से दूर करना चाहता है तथा यह भी स्पष्ट है कि वह ऐसा क्यों चाहता है । परन्तु इसके अन्तर्गत एक प्रश्न शेष रह जाता है कि क्या घातक पापों से मुक्ति का कोई उपाय है भी अथवा नहीं ?

इसके उत्तर में ऋग्वेद में कहा गया है - "हे अग्नि ! किस

1. सं पूषन्नध्वनस्तिर व्यं हो विमुको नपात् । सध्वा देव प्र णेस्पुः ॥

ऋ0 1,42,1

2. य आप्तिर्नित्यो वरुण प्रियः सन्त्वामागांसि कृण्वत्सखा ते ।

मा त एनस्वन्तो यक्षिन्भुजेम युन्धिष्मा विप्रः स्त्वने वस्थम् ॥

ऋ0 7,83,6

कारण तुमने कृष्ण से हमारे पाप की बात कह दी, द्युलोक से क्यों निवेदित कर रहे हो, हमारा वह कौन सा पाप है ? कृपालु मित्र से, पृथिवी, अर्यम्न ,  
 § तथा § भग से भी क्यों निवेदित कर रहे हो ।<sup>1</sup> इस मन्त्र से प्रतीत होता है कि ऋषि अपने पापों से अभिन्न है । अतः वह नहीं चाहता कि उसके पाप की सूचना देवताओं तक पहुँचे । किन्तु ऐसा भी नहीं है कि वह अपने पापों को प्रच्छन्न रखना चाहता है । प्रव्युत वह उनसे अभिन्न होना चाहता है । यहाँ उन पापों के विषय में कहा जा रहा है जो वेत्त मन से विस्मृत किये जा चुके हैं परन्तु उनका अस्तित्व अववेत्त में विद्यमान है । अतः पाप-मुक्ति का प्रथम उपाय है उससे अभिज्ञता ।

ऋषि तदनन्तर कहता है - "ये स्तोत्र तुम्हारे सम्मुख जाते हैं तथा हे अग्नि हम तुम्हारे समक्ष अपने पाप निवेदित करने हैं । हमारी स्तुति से प्रबुद्ध हुए अग्निदेव हमें हिंसकों से दूर करें तथा हिंसा से बचायें ।"<sup>2</sup> इस ऋचा में ऋषि अपने पापों को निःसंकोच भाव से स्वीकार करता है । पाप के प्रक्षालन की एक विधि है - उसे स्वीकार करना ।<sup>3</sup>

मनुष्य मर्त्य होने के कारण अशक्त एवं असहाय है । उसे पापों से मुक्त होने के लिये देवत्व की शरण लेनी आवश्यक है । देवता शक्ति के अक्षुण्ण स्रोत हैं । उनकी सहायता से दुष्कर कार्य भी सहज हो जाता है तथा घृणित व्यक्ति भी प्रार्थना एवं हविष के द्वारा अपने पापों को शिथिल कर सकता है ।<sup>4</sup>

1. कथा ह त्वरुणाय त्वमग्ने कथा दिवे गर्हसे कन्न आगः ।

कथा मित्राय मीळहुषे पृथिव्यै ब्रवः कर्दर्यम्णे कद्भगाय ॥ ऋ0 4,3,5

2. इमे यामासस्त्वद्रिगभूवन्वसेवे वा तदिदागो अवाचि ।

नाहायमग्निरभिशस्त्ये नो न क्षिपते वावृधानः परा दात् ॥ ऋ0 5,3,12

3. Confession of Sin is a way to Saintliness.

4. अवे ते हेळोवरुण नमोभिष्ठ यज्ञेभिरीमहे हविर्भिः ।

क्षयन्स्मभ्यमसुर प्रचेता राजन्नेनासि शिश्रथः कृतानि ॥ 1,24,14

देवताओं का देवत्व इसी बात में निहित है कि वे प्रार्थनाओं को सुनकर भक्त को क्षमा कर देते हैं ।<sup>1</sup> परन्तु वे उसे ही क्षमा करते हैं जो उनका आह्वान कृपणता के साथ नहीं करता है । उदार भाव से ली गई उपासना ही देवताओं की उदारता को प्राप्त करने में समर्थ होती है । 'देना' उदारता एवं अहंकार मुक्तता का द्योत्क है जो कि उपासना का मौलिक तत्त्व है । अतः ऋषि उदार मन से देवताओं से पाप-मुक्ति की प्रार्थना करता है ।<sup>2</sup>

जो व्यक्ति अपने अज्ञात में देवताओं का अवतरण नहीं चाहता वह पापों से सुरक्षित नहीं रह सकता, क्योंकि देवता अन्तस् में विद्यमान होकर ही पापों का प्रक्षालन करने हैं ।<sup>3</sup> अतः इसके लिये आन्तरिक ग्राह्यता एवं शुद्धता अनिवार्य हैं । वस्तुतः अन्तःकरण को शुद्ध किये बिना वास्तविक नैतिकता का जन्म नहीं हो सकता । इसलिये ऋषि के निकट अवैतन को निष्पाप बनाने के लिये देनी साहाय्य आवश्यक है ।<sup>4</sup>

ऋषि अपने कीदेव-पुत्र अनुमित करते हुए कहता है - "हे देवताओं! तुम्हारे आश्रित होकर मैंने अनेक पापों को मिटा डाला । कुमारगामी पुत्र को पिता द्वारा उपदेश देने के समान तुमने मुझे शिक्षा दी है । हमारे अमस्त पाप तथा बन्धन हट जाएँ । पुत्र को देखने वाले पिता तुम व्याध द्वारा पक्षी को मारने के समान हमें न मारना ।"<sup>5</sup> ऋषि की परिकल्पना है कि जिस प्रकार पिता का

1. अल्लाह पाप को क्षमा करने वाला तथा तोबा को स्वीकार करने वाला है।  
कुरआन, अल मोमिन, 3

2. न पापासो मनामहे नारायासो न जल्हवः ।

यदिन्निन्वन्द्रं वृषणं सवा सुने सखायं कृणवामहे ॥ ऋ0 9, 61, 11

3. न य ईषन्ते जनुषोऽया न्वरन्तः सन्तोऽवद्यानि पुनानाः ।

निर्यद्दुहे शुवयोऽनु जोषमनु श्रिया तन्वमक्षमाणाः ॥ ऋ0 6, 66, 4

4. ऋ0 8, 47, 18

5. प्र व एको मिमय भूर्यागो यन्मा पितेव कित्त्वं शशास ।

आरे पाशा आरे अद्यानि देवा मा माधि पुत्रे विमिव ग्रभीष्ट ॥ ऋ0 2, 29, 5

कर्त्तव्य है कि वह कुमार्ग पर गये अपने पुत्र को सन्मार्ग पर लाए उसी भाँति देवताओं को भी अपने भक्तों के नैतिक-औत्तिक आवरण का ध्यान रखना चाहिए। देवताओं की वस्तु स्थिति भी यही है कि वे मनुष्यों की संरक्षा वात्सल्य भाव से करते हैं ।<sup>1</sup> अतः स्पष्ट है कि देव संरक्षण में पाप की आशंका उन्मूलित हो जाती है ।

ऋषि केवल दैवी साहाय्य के द्वारा ही पापों से मुक्त नहीं होता प्रत्युत वह स्वयं भी प्रयास करता है । इसका ज्ञान इस मन्त्र से होता है, जिसमें कहा गया है - "हे देवगण ! तम निष्पन्नकर्त्ता का रथ आपी हो । हमारे स्तोत्र से पाप-बुद्धि वाले हार जायें, तम हमारे वक्त्रों से बढ़ो । हेअग्नि ! तुम्हारे मित्र होकर हम कभी दुःख न प्राप्त करें ।"<sup>2</sup> पाप अथवा पापी से सुरक्षित रहने के लिये विचारों की मनोज्ञता आवश्यक है । सुन्दर विचार ही शोभन कर्मों की प्रेरणा देते हैं : एवं इसके लिये ऋजुता अनिवार्य है । जिसके जीवन की भित्ति ऋजुता की धरती पर आर्धत होती है उसके जीवन के प्रांगण में द्रुता एवं पाप रूपी शत्रुओं का प्रवेश निषिद्ध हो जाता है । ऋजु स्वभाव वाला ही नैतिक-औत्तिक को विविकृत कर सकता है ।<sup>3</sup> अतः पाप से सुरक्षित रहने के लिये ऋजुता आवश्यक है ।

1. यया र॒ध्रं प॒रय॒थात्य॑ हो॒ यया नि॒दो मु॒च्ये व॒न्दि॒तार॑म् ।

अ॒र्वाची॑ सा मे॒रुतो॒ या व॑ अ॒तिरो॒ षु वा॒श्रेव॑ सु॒म॒तिर्जि॑गान् ॥

ऋ० 2, 34, 15

2. पूर्वा॑ दे॒वा भव॑न् सु॒व॒तो रथो॑ऽस्माकं श॒सो अ॒य॑स्तु दू॒दयः॑ ।

तदा॑ जा॒नी तो॒त पु॑ष्य॒ता व॒वोऽग्ने॑ स॒ख्ये मा रि॑षामा व॒यं त्व॑ ॥

ऋ० 1, 94, 8

3. वे॒त्या हि वे॒धो अ॒व॑नः प॒थश्च॑ दे॒वाभ॑स्ता ।

अग्ने॑ य॒ज्ञेषु॑ सु॒क्रतो॑ ॥

ऋ० 6, 16, 3

### 6.2.3. आदर्श- जीवन

ऋग्वेद का ऋषि सर्वप्रथम पापों की वास्तविकता से अभिज्ञ होकर, विशिष्ट मार्ग के द्वारा उन पापों से मुक्त होकर ही अपना जीवन व्यतीत करना चाहता है। उसके लिये आदर्श जीवन वह है जिसमें पाप अथवा अनैतिकता के लिये कोई स्थान न हो तथा जिसके अन्तर्गत उसके विचार, उसके आचरण एवं उसकी आजीविका सभी कुछ निष्पाप हो।

उपर्युक्त इच्छा को अधोलिखित मन्त्र में देखा जा सकता है -  
 "हे पूषन् ! तुम्हारी पाप से दूर वाली तथा धन से निकट वाली कल्याण - भावना की मैं आकांक्षा करता हूँ तथा आज भी जो यज्ञ के लिये हित्कर है एवं आगे आने वाले कल के लिये भी जो हित्कारी है"।<sup>1</sup> देवताओं की कल्याण-भावना पाप-रहित एवं दिक्कालातीत होती है। अतः ऋषि भी अपने जीवन में उसी प्रकार की कल्याण भावना को चाहता है जो उसके साथ सदैव विद्यमान रहे। देश और काल से आवेष्टित कल्याण उसे अभिप्रेत नहीं है। वह उस धन की आकांक्षा करता है जो निष्पाप हो तथा देव-मान्य। वास्तविक ऋद्धि के लिये निष्पापत्व आवश्यक है। ऋषि, प्रार्थना करता है कि वह तथा उसके पुत्र यज्ञादि के द्वारा निष्पाप होकर समृद्ध हों।<sup>2</sup> जिस समृद्धि को यज्ञ के द्वारा प्राप्त किया जाता है उसमें अनिवार्यतः स्थायित्व होता है।<sup>3</sup>

1. आ ते स्वस्तिमीमह आरे अघामुपाक्सुम् । अघा च सर्वतात्थ्ये श्वश्च सर्वतात्थ्ये ॥

ऋ0 6, 56, 6

2. यस्मै त्वं सुद्रविणो ददोशोऽनागास्त्वमदिते सर्वताता ।

यं भद्रेण शक्सा वोदयासि प्रजावता राधसा ते स्याम ॥ ऋ01, 94, 15

3. अन्यायोपार्जितं द्रव्यं दश वर्षाणि तिष्ठति ।

प्राप्ते वोकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति ॥

चाणक्य नीति दर्पण, 15/6

यह सार्वभौम तथ्य है कि जीवन के लिये धन<sup>1</sup> नितान्त आवश्यक है। संसार में गति धन के द्वारा ही सम्भव है, इसी कारण मनुष्य इसके लिये स्तब्ध करता है।<sup>2</sup> सम्पत्ति की इच्छा केवल इस हेतु की जाती है कि इससे सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों को पूर्ण करने में सहायता मिलती है। ऋषि ने भी धन के महत्त्व को पहचाना था, इसी लिये वह देवताओं से धन की प्रार्थना करता था। परन्तु उसकी प्रार्थना विलक्षण धन के लिये थी। इसका प्रमाण इस मन्त्र से प्राप्त होता है - "हे द्यावा - पृथिवी ! मैं पाप रहित, अश्वर चारों ओर प्रकाशित, अहिंसक, अन्न के समान धन की याचना करता हूँ। स्तोत्र के लिये उसे उत्पन्न करो तथा भयों अथवा पापों से रक्षा करो।"<sup>3</sup> ऋषि पापमय पद्धति से अर्जित धन की आकांक्षा नहीं करता है प्रत्युत वह निष्पाप धन चाहता है। ऐसा ही धन अश्वर तथा अहिंसक होता है। धन के द्वारा भी हिंसाएँ उत्पन्न हो जाती हैं, क्योंकि धन के साथ अहंकार भी पुष्ट होता है।<sup>4</sup> अहंकारी व्यक्ति अपने अतिरिक्त किसी अन्य के विषय में क्वार नहीं करता है। उसकी एक मात्र इच्छा होती है सबकी पराजय तथा उसकी विजय। स्वयं को सर्वोच्च शिक्षर पर देखने की उसकी यह लालसा उसे हिंसा के क्षेत्र तक ले जाती है। इस प्रकार जीवन-धारक धन जीवन-नाशक बन जाता है।

1. यतः सर्वप्रयोजनसिद्धिः सोऽर्थः । नीतिवाक्यामृतम् , 2/1

2. न हि तद्विद्यते किंचिदर्थेन न सिद्ध्यति ।

यत्नेन मतिमांस्तत्प्रादर्थमेकं प्राधेत् ॥ पंचमन्त्र, निघ्नमेव , 2

3. ओहो दात्रमदिनेनूर्ध्वं हुवे स्वर्वदवर्धं नमस्वत् ।

तद्भौदसी जयतं जरित्रे द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अवात् ॥ ऋ0 1, 185, 3

4. "कारून नामक व्यक्ति अत्यन्त धनवान् था। वह धन के कारण ही अहंकारी बन गया तथा अनेकिकावरण करने लगा। अहंकारी का स्थान जहन्नम है।"

आर्ष वेत्ता विध्वंसकारी तत्त्वों से हट कर सर्जनात्मक तत्त्वों को धारण करती है । इसलिये वह नैतिक मूल्यों को प्राप्त करके ही भौतिक सम्पत्ति को प्राप्त करती है ।<sup>1</sup> उसके जीवन में विनाश, अन्धकार तथा हिंसा के लिये कोई स्थान नहीं है । वह केवल सौमनस्य का आकांक्षी है । सौमनस्य-शाली ही निरहंकारी होता है तथा जो निरहंकारी होता है उसका धन हिंसा को जन्म नहीं देता । इस प्रकार ऋषि दर्प को क्षीण करने वाले तथा आन्तरिक नैतिकता को उत्पन्न करने वाले ही धन का अर्थ है ।<sup>2</sup>

ऋषि साम्य दृष्टि का परिचय देते हुए कहता है - "अब हमें गतिशील सम्पत्ति प्रदान करो जो कि मनुष्यों को परिपूर्ण करने वाली हो, अनेक वीरों से युक्त हो, महान् शक्त की रक्षा करने वाली हो, अक्षय निवास देने वाली हो, जिनसे हम दूरदर्शालु एवं देव-विरोधी आसुरी शक्तियों को परास्त कर सकें, देवत्व से परिपूर्ण प्रजाओं को हम प्राप्त कर सकें ।"<sup>3</sup>

मार्क्स का कथन है कि मानव को सर्वप्रथम भोजन, वस्त्र तथा गृह प्राप्त होना चाहिए तदुपरान्त ही उन्हें किसी अन्य वस्तु में रुचि के लिये प्रेरित किया जा सकता है । उसने यह भी स्वीकार किया है कि धन का किसी एक ही स्थान पर परिग्रह नहीं होना चाहिए प्रत्युत वह समाज में हस्त-ान्तरित होते रहना चाहिए ।<sup>4</sup>

1. नृवृद्धसो सदमिदं ह्यस्मे भूरि तोकाय त्मयाय पशवः ।

पूर्वीरिषो बृहतीरारे अथा अस्मे भद्रा सौश्र्वसानि सन्तु ॥ ऋ0 6,1,12

2. इन्द्रावरुणा सौमनसमदृप्तं रायस्पोषं यजमानेषु धत्तम् ।

प्रजां पुष्टिं भूतिस्मासु धत्तं दीर्घायुत्वाय प्र तिरतं न आयुः ॥ ऋ08,59,7

3. न नो रयिं रयं वर्षणिप्रां पुरुवीरं मह श्रुतस्य गोपाम् ।

क्षयं दाताजरं येन जन्तुस्पृधो अदेवीरभि च क्रमाम्

विश आदेवीरभ्यः शनवाम् ॥ ऋ0 6,49,15

4. डा0 राधाकृष्णन् , धर्म और समाज, पृ0 32-33



ऋषि ने वैदिक युग में उस सम्पत्ति की कामना की थी जो एक ही स्थान पर स्थिर न होकर गतिशील हो । वह समाज को सुखी देखना चाहता था, परन्तु उसने धन के बलात्-हरण को मान्यता नहीं दी है । उसके स्थान पर उसने ऋत के नियम को स्थापित किया है । वह ऋत के द्वारा अर्जित धन को ही मान्यता देता है क्योंकि ऐसा ही धन नैतिक नियमों का अनुसरण करके गतिशील होता है ।

ऋषि पराश्रय को हेय दृष्टि से देखता है क्योंकि किसी पर अनावश्यक भार बनना अनैतिक है । वह अपने नैतिक दायित्व से अभिन्न होकर स्वयं कर्म करके जीवन-यापन करना चाहता है ।<sup>1</sup> पारिवारिक सुदृढ़ता के लिये यह सिद्धान्त उपादेय है ।

ऋषि के आदर्श जीवन का चरभोक्र्ष निम्नलिखित मन्त्र में प्राप्त होता है - "समस्त आकर्षक पदार्थों को हम धारण करें जो कि अनायास प्राप्त हो, वहशक्तिसम्पन्न, सुन्दर, दुष्टों के द्वारा जिसे समाप्त नहीं किया जा सके तथा जो वरणीय हो । हे अश्विनी कुमारो ! तुम्हारे इस आगमन के साथ हम हम आकर्षक पदार्थों को धारण करें ।"<sup>2</sup> इस मन्त्र में वह भौतिकता से उठकर आध्यात्मिकता की ओर गया है । भौतिक जीवन के लिये भौतिक सम्पत्ति उपादेय हो सकती है परन्तु आध्यात्मिक जीवन के लिये नहीं । उसके लिये तो आध्यात्मिक सम्पत्ति ही आवश्यक है । ऋषि के जीवन का लक्ष्य संसार मात्र नहीं है । वह संसार को कर्मभूमि मानकर नैतिकता पूर्ण जीवन-यापन करते हुए देवलोक तक आरोहण करना अपना लक्ष्य समझता है । लक्ष्य से च्युत होना विनिपात का द्योत्क है । अतः विनिपात से सुरक्षित रहकर उन्नत जीवन के हेतु

1. मा कस्याद्भु त्कृत्तु यक्ष भुजेमा त्नुभिः । मा शेषसा मा त्ससा ॥ ऋ05,70,4

2. सुप्रावर्गं सुवीर्यं सुष्ठु वार्यमनाधृष्टं रक्षस्विना ।

अस्मिन्ना वामायांने वजिनीक्सु वि३वा वामानि धीमहि । ऋ08,22,18

भौतिक तथा आध्यात्मिक सम्पत्ति का समन्वय आवश्यक है एवं यह समन्वय प्राप्त होता है देवताओं एवं मनुष्यों के संयुक्त प्रयास के द्वारा ।<sup>1</sup>

#### 6.2.4. ज्ञान

यह सर्वमान्य है कि मनुष्य हो अथवा देवता सभी के कार्य 'संकल्प' अथवा 'इच्छा' के द्वारा सम्पन्न होने हैं । जैसा संकल्प होता है वैसा ही आचरण भी । अतः नैतिक आचरण के लिये आवश्यक है कि इच्छा शक्ति देव-स्मरीय हो । मनुष्य अपने में सीमित है, अतः सत्कर्मों वा संकल्प देवताओं से ही आता है ।<sup>2</sup> इसीलिये ऋषि देवताओं से प्रार्थना करता है कि उसके जीवन में ज्ञान की ज्योति अथवा दिव्य-ज्योति आविर्भूत हो - " हे हरित - वर्ण केश वाले सूर्य ! तुम्हारी जिन ज्ञान रूपी रश्मियों से विश्व प्रेरित होता है तथा रात्रि का अन्धकार दूर होना है, तुम अपनी उसी ध्वजा के साथ प्रतिदिन उदित होओ, हम भी पाप रहित रहते हुए उसका दर्शन करते रहें ।"<sup>3</sup> इस मन्त्र से प्रकट होता है कि ज्ञानरूपी किरणों को प्राप्त करने के लिये निष्पाप होना आवश्यक है । इस ज्ञान को प्राप्त करने से अज्ञानरूपी अन्धकार स्वतः मिट जाना है ।

ऋषि को क्या-क्या वांछनीय है, इसको इस मन्त्र में देखा जा सकता है - " हे सोम ! हमारे लिये प्रकाश जीतो, स्वर्ग भी हमें प्राप्त कराओ तथा समस्त सौभाग्य एवं श्रेय भी हमें प्रदान कराओ ।"<sup>4</sup> इस ऋचा में उसने

1. युवाभ्यां मित्रावरुणोपमं धेया मृचा ।

युद्ध क्षये मघोनां स्तोतृणां च स्पृधसे ॥ 5, 64, 4

2. इन्द्रः सहस्रदान्नां वरुणः शस्थानाम् । क्रतुर्ववत्युक्थ्यः ॥ ऋ0 1., 17, 5

3. यस्य ते विश्वाभुवनानि केत्नाप्रचेरते निव विशन्ते अकतुभिः ।

अनागास्त्वेन हरिकेश सूर्याह्नाह्ना नो वस्यसावस्य सोदिदिदि ॥ ऋ0 10, 37, 9

4. त्ना ज्योतिः सना स्वर्विश्वा व सोम सौभगा । अथा नो वस्यसस्कृधि ॥

स्पष्टतः कहा है कि उसे धन-सम्पत्ति, यश, स्वर्ग, तथा ज्योति चाहिए ।  
 उसके लिये मुख्य वस्तु प्रकाश ही है, क्योंकि उसे ज्ञान है कि संसार अज्ञान  
 रूपी अन्धकार से आच्छन्न है । उस अन्धकार को दूर करने के लिये ज्योति  
 अथवा प्रकाश की आवश्यकता होती है । साधारण अन्धकार तो भौतिक प्रकाश  
 से ही दूर हो सकता है परन्तु अज्ञान का तम तो ज्ञान अथवा दिव्य ज्योति  
 के द्वारा ही समाप्त किया जा सकता है । अतः वह अन्धकार के परे जाने के  
 लिये प्रकाश की कामना करता है ।<sup>1</sup>

वह दुर्बुद्धि, पाप तथा दुष्ट विचारों से दूर रहने के लिये ज्ञान-  
 वत्ता को महत्त्वपूर्ण मानता है ।<sup>2</sup> ज्ञान के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए वह  
 कहता है - "हे अग्नि ! जो तू ऊपर की ओर उठ रहे हो इस रूप में हमें पाप  
 से सुरक्षा प्रदान करो, ज्ञान के द्वारा रक्षा करो तथा समस्त भक्षण करने वालों  
 को जला डालो । हमें कलने तथा जीवित रहने के लिये ऊँचा उठाओ, देवताओं  
 के मध्य हमें दो ।"<sup>3</sup> यहाँ ज्ञान को जीवन का रक्षक, उन्नायक तथा देवत्व  
 प्राप्ति का साधन बताया गया है । निम्नता से उच्चता की ओर जाने के लिए  
 ज्ञान आवश्यक है । जो व्यक्ति नैतिक रूप से उच्च होता है वही जीवन के  
 वास्तविक आनन्द को भोगता तथा निष्पाप रहता है । अतः आनन्द प्राप्ति  
 एवं पाप - मुक्ति के साधन रूप ज्ञान अथवा सुबुद्धि की ऋषि आकांक्षा करता है।

1. या नः पीपरदक्षिणा ज्योतिष्मती तमस्त्रिः ।

तामस्मे रासाथामिषम् ॥ ऋ० १, 46, 6

2. ऋ० 8, 19, 26

3. ऊर्वो नः पाह्यंहसो नि केत्मा विश्वं समन्त्रिणं दह ।

कृधी न ऊर्वाचरथाय जीवसे विदा देवेषु नो दुः ॥ ऋ० 1, 36, 14

### 6.2.5. मधुरवाणी

जीवन की कटुता में मधुरता का एक क्षण भी मूल्यवान् होता है ।<sup>1</sup> मनुष्य अपनी भावनाओं तथा विचारों को वाणी के माध्यम से ही अभिव्यक्त करता है । क्रोधावेश में उसकी वाणी कठोर एवं कर्कश हो जाती है जबकि प्रेम में मधुर एवं सुन्दर । इस प्रकार भावनाओं तथा विचारों के अनुसार ही वाणी का स्वरूप भी परिवर्तित होना रहता है । इस प्रकार की वाणी में न कोई स्थिरता होती है और न ही सौन्दर्य ।

वैदिक ऋषि का विचार है कि जो वाणी सन्मार्ग पर ले जाने की शक्ति रखती हो तथा जिसे दिव्य-सुख प्रदान करने की शक्ति सन्निहित हो वही वास्तविक वाणी है ।<sup>2</sup> परन्तु इस प्रकार की वाणी मनुष्य के लिए सुलभ नहीं होती अपितु देव-सुलभ होती है ।

ऋषि देवत्व का सम्पूर्णतः अवतरण चाहता है । वह अपने जीवन को देवत्वमय करना चाहता है । इस हेतु वह उनके विचार से आचरण तक को अपना लक्ष्य स्वीकार करता है । अतः वह उनकी वाणी को आत्मसात् करने के लिये प्रार्थना करता है कि "हे उषा ! तू समस्त स्तोत्राओं को धन तथा हमारे समक्ष सौन्दर्य एवं सत्य से युक्त वाणी को प्रेरित करती हुई वमकती हो । हमें दान देने की बुद्धि दो तथा सदैव हमारा कल्याण करो ।"<sup>3</sup> ऋषि ने यहाँ उस

1. पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि जलमन्नं सुभाषितम् ॥ वाणक्य नीति दर्पण, 14/1

2. सुगो हि वो अर्यमन्मित्र पन्था अक्षरो वरुण साधुरस्ति ।

मेमादित्या अधि वोचता नो यच्छता नो दुष्परिहन्तु शर्म ॥ ऋ02, 27, 6

3. देव देव राधसे वोदयन्त्यस्मद्भ्यक्सूता ईरयन्ती ।

व्युच्छन्ती नः स्मये धियो धा यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥

वाणी की कामना की है जिसमें सत्य एवं सौन्दर्य विद्यमान हो । उस वाणी को प्राप्त करके वह उषा की ही भाँति जीवन को प्रकाशित करना चाहता है ।<sup>1</sup>

#### 6.2.6. शक्ति

जीवन में संघर्ष है, जो इस संघर्ष में क्लान्त होकर बैठ जाता है उसका अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है । शक्तिमान् ही अपने अस्तित्व को बनाये रखने में समर्थ होता है ।<sup>2</sup> अतः जीवन के लिये शक्ति अनिवार्य है । अशक्त व्यक्ति न तो स्वयं की रक्षा कर सकता है तथा न ही किसी अन्य की । ऐसे व्यक्ति नैतिक पथ पर भी सतत चल नहीं सकते ।

अतः ऋषि आत्म-निस्तार के लिये इन्द्र से अभ्यर्चना करता है कि "हे इन्द्र ! मुझे मनुष्यों की रक्षा करने का सामर्थ्य प्रदान करो । तू सोम से युक्त रहते हो, मुझे सबका आधिपत्य प्रदान करो । मुझे ऋषि बनाओ तथा सोम पीने के योग्य बनाने हुए अमरत्व प्रदान करो ।"<sup>3</sup> वह संरक्षक के रूप में शक्ति एवं ऋषि के रूप में आधिपत्य चाहता है । जो शक्ति अैतिक आवरण का संबल बनती है उसे वह हेय समझता है । अतः राजा को आर्ष-चेत्मा से युक्त होना चाहिए, ऐसी उसकी अवधारणा है ।

1. नारुन्तुदः स्थान्न नृशसवादी - न हीनतः परमभ्याददीत ।

ययास्य वावा पर उद्विजेत - न तां वदेद् रुशतीं पापलोक्याम् ॥

महाभारत सूक्ति सुधा, 104/31

2. "Survival of the fittest" c. Darwin.

3. कुविन्मा गोपां करसे जनस्य कुविद्राजानं मघवन्नृजीषिन् ।

कुविन्म ऋषिं पपिवांसं सुतस्य कुविन्मे वस्वो अमृतस्य शिक्षा ॥

वास्तविकता यह है कि वह आचार के विरुद्ध शक्ति चाहता है, जिसके द्वारा वह उसे अभिभूत कर सके । वह क्षय एवं दुष्टता के विपरीत शक्ति की आकांक्षा करता है ।<sup>1</sup>

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह कहना समीचीन होगा कि वैदिक ऋषि आभ्यन्तर में परिवर्तन एवं सामञ्जस्य स्थापित करके ही बाह्य जगत् में पदार्पण करता है, क्योंकि उसकी मान्यता है कि आभ्यन्तर तत्त्व बाह्य तत्त्वों को अधिकृत कर लेते हैं । परन्तु प्रथमतः वह बाह्य से अभिज्ञ होता है तदुपरान्त आन्तरिक व्यवस्था पर ध्यान देता है ।

समाज अथवा व्यक्ति को नैतिक बनाने के लिये परिवर्तन भीतर से आरम्भ होना चाहिए । आभ्यान्तर परिवर्तन ही नैतिकता को उत्पन्न करता है । इसी दृष्टिकोण से ऋषि निष्पाप जीवन, सुन्दर इच्छा शक्ति रूपी ज्ञान तथा शक्ति की स्पृहा करता है । वह देवत्व को आत्मसात् तथा अध्यात्म को देवगुणों से अनुस्यूत करना चाहता है । उसके विचार में नैतिकता के लिये उक्त गुणों की जीवन में उपस्थिति अनिवार्य है ।

### 6.3. करणीय

इसके अन्तर्गत ऋषि के उन विचारों का उल्लेख उद्दिष्ट है जिनमें वह देवताओं से कल्पित वस्तुओं की स्पृहा भी करता है एवं तदनुरूप उसे क्रियात्मक स्वरूप भी प्रदान करना चाहता है । ऋषि केवल स्पृहा के द्वारा ही नैतिकता प्राप्त नहीं करना चाहता अपितु वह आचरण भी करता है ।

1. तद्गमे द्युम्नमा भरु यत्सासहत्सदने कं विद्वित्रिणम् । .

मन्युं जनस्य दूदयः ।। ऋ0 8, 19, 15

### 6.3.1. आचार की समाप्ति

जिस प्रकार चरित्र {कर्म} एवं भाग्य {फल} से मिलकर ही कार्य सम्पन्न होते हैं, उसी प्रकार मनुष्य एवं देवता के परस्पर सहयोग से ही नैतिकता निष्पन्न होती है। परन्तु आरम्भ मनुष्य को ही करना पड़ता है। देवी साहाय्य उसके बाद ही प्राप्त होता है।<sup>1</sup>

ऋषि सर्वप्रथम स्वयं आचार को परास्त करने का प्रयास करता है परन्तु जब वह समर्थ नहीं होता तब देव-शरण में जाना है एवं कहता है -  
 “हे शक्तिशाली इन्द्र-वरुण ! तुम दोनों इस शत्रु के ऊपर उस वज्र से प्रहार करो जो देदीप्यमान है। जो हमारी दृष्टि में दुश्चरित्र, क्षति पहुँचाने वाला तथा हिंसक है, उसके ऊपर अभिभूत करने वाले अपने ओज को लगाओ।”<sup>2</sup> ऋषि दुश्चरित्र को समाप्त करने के लिये कटिबद्ध है।

अनेक मन्त्रों से यह प्रतीत होता है कि ऋषि देवी साहाय्य के बिना कोई कार्य करता ही नहीं है। परन्तु वास्तविकता इससे भिन्न है। वस्तुतः वह देव-गुणों से युक्त होकर अथवा प्रत्येक कार्य में देवताओं को साक्षी बनाकर आचरण करता है, क्योंकि ऐसी दशा में पाप की सम्भावना नगण्य हो जाती है। हदीस में भी कहा गया है कि प्रत्येक कार्य अल्लाह का नाम लेकर किया करो। इसके दो लाभ हैं - अहंकार-मुक्तता एवं अल्लाह के संरक्षण की प्राप्ति।

ऋषि का यह सदाशय निम्नलिखित मन्त्र में देखा जा सकता है जिसमें वह कहता है “हे अग्नि ! सभी द्वेष करने वाले लोगों को जल की धारा

1. God helps those who help themselves.

2. इन्द्रा युर्व वरुणा दिद्युमस्मिन्नोजिष्ठमुग्ना नि वधिष्टं वज्रम् ।

यो नो दुरेवो वृक्त्तिर्दभीतिस्तास्मिन्मिमाथाम् अभूत्योजः ॥ ऋ04,41,4

की भाँति तुम्हारी सहायता से हम लोग पार कर जाँय" । यहाँ ऋषि ही द्वेषियों के अतिक्रमण का संकल्प लेता है । यह सर्वमान्य है कि संकल्प से ही समस्त कार्य सम्पन्न होते हैं । अतः संकल्पात्मक ऋषि ही वस्तुतः द्वेषियों को समाप्त करना है । परन्तु अपने अहंकार से मुक्त होने तथा देव-संरक्षण में कुशलता से कार्य करने के लिये वह देवताओं से प्रार्थना अवश्य करता है । यदि वह इस रीति से कार्य नहीं करता तो सम्भव है कि उसके लिये अतिक्रमण का कार्य कठिनता से पूर्ण होता । परन्तु देवी साहाय्य प्राप्त करके जल धारा को पार करने के समान वह सरलता से द्वेषियों को अभिभूत कर लेता है ।

एक अन्य मन्त्र में वह कहता है - "ब्रह्मणस्पति का ऋजु स्तोता हिंसकों की हिंसा करे, देवताओं की उपासना करने हुए आसुरी व्यवहार करने वाले को अभिभूत करे । युद्ध के दुस्तर शत्रु को भी नष्ट करे, आयाजिक का भोजन ग्रहण कर ले ।"<sup>2</sup> इस मन्त्र से प्रकट होता है कि ऋषि केवल ब्रह्मणस्पति का स्तोता होने के कारण ही समस्त आचार को समाप्त करने में सक्षम नहीं है अपितु उसकी ऋजुता भी इसका एककारण है । वह असुरों, हिंसकों तथा आयाजिकों को समाप्त करने का प्रण लेता है ।<sup>3</sup> उसके ये विचार ही नैतिकाचरण में परिणत होते हैं ।

वह अशुभ को विच्छिन्न करने का प्रयत्न करता है । यदि वह ऐसा नहीं कर पाता तो उसे निष्क्रिय ही कर देना चाहता है । उसके निकट कृपण एक प्रकार के शत्रु है, क्योंकि वे धन का परिग्रह करते हैं, दान नहीं देते ।

1. विश्वा॑ उ॒त त्वया॑ क्यं॒ धारा॑ उ॒दन्या॑ इव । अ॒ति गा॑हेमहि॒ द्विषः॑ ॥ ऋ02, 73

2. ऋ॒जुरिच्छ॑सो॒ वनव॑द्धनु॒ष्यतो॑ दे॒व्यन्नि॑ददे॒व्यन्त्स॒भ्यस॑त् ।

सु॒प्रा॒वीरि॑द्धनव॒त्प॒त्सु दु॒ष्टरं॑ य॒ज्वेद॑य॒ज्योर्वि॑ भ॒जाति॑ भो॒ज॒नम् ॥ ऋ02, 26, 1

3. "ज्यादती को सहन कर ले तो उत्तम है अन्यथा उत्मी ही ज्यादती कर सकता है" । कुरआन, आ-शूरा, 39-40



इस प्रकार के लोगों का सुषुप्त रहना ही उसे अभिप्रेत है । इसके विपरीत जो उदार हैं, उनकी उदारता को वह सदैव देखना चाहता है । प्रकारान्तर से वह स्वयं उदारचिन्त है फलतः वह सवेष्ट रहना चाहता है ।<sup>1</sup>

उसका विश्वास है कि केवल दण्ड से ही नीति की स्थापना नहीं की जा सकती अपितु परिवर्तन-नीति का भी पालन आवश्यक है । यह एक प्रकार की परिष्कार-नीति है जिसके अन्तर्गत वह कृपण को उसके मानसिक परिवर्तन के द्वारा नैतिक बनाने का प्रयास करता है ।<sup>2</sup>

उसका कथन द्रष्टव्य है - "हे पूषन् ! वाक्कु के द्वारा पणि के हृदय के ऊपर प्रहार करो, उसके हृदय में तुम प्रेम उत्पन्न करो, तत्पश्चात् हमारे निमित्त उसे वशीभूत करो ।"<sup>3</sup> यहाँ ऋषि के अधीन रहने का तात्पर्य नैतिकता के अधीन रहना है क्योंकि ऋग्वेद में ऋषि एवं नैतिकता इस प्रकार परस्पर अनुस्यूत हैं कि वे पर्याय बन गये हैं । उसका समाज एवं व्यक्ति को आन्तरिक रूप से परिष्कृत करने का उद्यम प्रशंसनीय है । काण्ट ने भी क्रान्ति का आरम्भ अध्यात्म से माना है । वह बाह्य नैतिकता को आरोपित फलतः क्षणभंगुर कहता है । ऋषि ने बल-प्रयोग के द्वारा कृपण को उदार बनाने का प्रयास नहीं किया है प्रत्युत उसने देव प्रेरणा के द्वारा उनके हृदय में प्रेम-भावना को जाग्रत करके नैसर्गिक रूप से उन्हें उदार बनाने का प्रयास किया है ।<sup>4</sup>

इस प्रकार ऋग्वेद में वर्णित नैतिकता देवता एवं ऋषियों के परस्पर सहयोग का परिणाम है । कभी आचार को समाप्त करने के लिये ऋषि देवाह्वान

1. स॒सन्तु॒ त्वा अ॒रा॒तयो॑ बो॒धन्तु॒ शर॑ रा॒त्यः ।

आ॒तू न॑ इन्द्र शंस्य गोष्व॒श्वेषु॑ शु॒भ्रिषु॑ सह॒स्रेषु॑ त्वी॒मघ ॥ ऋ० ।, 29, 4

2. अ॒दि॒त्सन्त॑ वि॒दाघृ॑णे पू॒षन्दा॑नाय वो॒दय॑ । पु॒णे॒रि॒च्छि॒द्वि॒प्र॒दा॒मनः॑ ॥ ऋ० 6, 53, 3

3. वि पू॒षन्नार॑या नृ॒द पु॒णे॒रि॒च्छ हृ॒दि प्रि॒यम् । अ॒थे॒म॒स्मभ्यं॑ रन्ध॒य ॥ ऋ० 6, 53, 6

4. आ रि॒ख कि॒क॒रा कृ॒णु॒ प॒णी॒ना हृ॒दया॑ क्वे । अ॒थे॒म॒स्मभ्यं॑ रन्ध॒य ॥ ऋ० 6, 53, 7

करना है तो कभी देवता ही मनुष्यों की सहायता ग्रहण करने है ।<sup>1</sup> कर्म-भूमि में कार्य करने के लिये मनुष्य रूप आवश्यक है परन्तु संसार से अनावार अथवा अधर्म को उच्छिन्न करने के लिये केवल मनुष्यत्व ही पर्याप्त नहीं है अपितु देवत्व की भी आवश्यकता पड़ती है । देवताओं का ऋषियों के ऋयात्म में अवतरण इसका उदाहरण है । कालान्तर में यही देवअवतरण 'अवतार' के रूप में परिणत हो गया ।<sup>2</sup> कुरआन का भी कथन है कि धरती की व्यवस्था को सुचारु रूप से बनाये रखने के लिये अल्बाह पापियों को पण्यकर्त्ताओं के द्वारा समाप्त करवाता है ।<sup>3</sup>

कतिपय मन्त्रों से ज्ञान होता है कि ऋषि देवत्व का पालन करके उनके आवरण को अपने जीवन का आवरण बनाना चाहता है । उसके लिये देवता ही आदर्श है । अतः वह उनके कृत्यों का अनुसरण करता है । उदाहरणार्थ अश्विनीकुमारों ने वृद्ध च्यवन को युवा बनाया तो ऋषुओं ने अपने पितरों को ।<sup>4</sup>

#### 6.3.2. दान

संसार से निर्धनता का निराकरण करने एवं समानता लाने के लिये दान एक सशक्त साधन है । ऋषियों ने इसकी महत्ता से परिचित होकर दान-भाव को अपने जीवन का आधार बनाया था ।

1. नकिष्ट एतावता मिनन्ति नृभ्यो यदेभ्यः श्रुष्टं वृत्तं ।

तत्तु ते दंसो यदहेन्त्समानैर्नृभिर्द्युवतो विवे रपांसि ॥ ऋ0 1,69,7/8

2. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अयुत्थानमर्धमस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ गीता, 4/7

3. कुरआन, अल-बक्रा, 251

4. युवाना पितरा पुनः सुत्यमन्त्रा ऋज्यवः ।

ऋभवो विषद्व्यक्रत ॥ ऋ0 1,20,4

ऋषि दानी उसे कहता है जो घर आए दरिद्र याक को अन्नादि दें ।<sup>1</sup> परन्तु जो अपने अन्नरंग मित्र की अन्नवान् होते हुए भी अन्नादि के द्वारा सहायता नहीं करता उसे वह मित्र मानने को उद्यत नहीं है । उसके मत में ऐसे मित्रों का त्याग ही उपादेय है ।<sup>2</sup> अतः मित्रता वही है जिसमें परस्पर सहयोग की भावना निहित हो ।<sup>3</sup>

एक मन्त्र में उसका कथन द्रष्टव्य है -॥ "हे इन्द्र -वरुण ! ॥ बल तथा सुबुद्धि प्राप्ति की इच्छा से हम तुम्हारी कामना करते हैं । हम अन्न-दान करने वालों में अग्रणी हों ।"<sup>4</sup> वह यहाँ किसी भौतिक सम्पत्ति की कामना न करके आत्म परिष्कार एवं नैतिकता को जन्म देने वाली सुबुद्धि की कामना कर रहा है । वह शक्ति अथवा कैवल्य-सम्पन्न होना चाहता है, केवल इस हेतु कि वह नैतिक-व्यवहार करने वालों में अग्रणी हो सके ।<sup>5</sup> अतः उसकी उदात्त भावना को ईर्ष्या का परिणाम नहीं कहा जा सकता ।

एक मन्त्र में ऋषि की कल्पना अथवा इच्छा इस प्रकार मुखरित हुई है - "हे इन्द्र ! यदि जिन्मा तुम्हारे पास है उन्मे का ही मैं स्वामी बन जाऊँ तो हे दाना इन्द्र ! मैं स्तुति करने वाले को ॥धन॥ प्रदान करना चाहूँगा । मैं पापी को नहीं दूँगा ।"<sup>6</sup> इस मन्त्र में उसकी इच्छा है कि वह देवत्व को प्राप्त

1. स इद्भोजो यो गृह्वे ददात्यन्नकामाय चरते कृषाय ।

अरमस्मे भवति यामहुता उतापरीषु कृणुते सखायम् ॥ ऋ0 10, 117, 3

2. न स सखा यो न ददाति सख्ये सवाभुवे सवमानाय पित्वः ।

अपस्मात्त्रेयान्न तदोको अस्ति पूजन्तमन्यमरणं विदिच्छेत् ॥ ऋ0 10, 117, 4

3. पापन्निवारयति योज्यते हिनाय गुह्यं निगूहति गुणात् प्रकटीकरोति ।

आपद्गतं च न जहाति ददाति काले सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः । नीतिशिल्प, 73

4. युवाकु हि शचीनां युवाकु सुमन्तीनाम् । भूयाम वाजदान्नाम् ॥ ऋ0 1, 17, 4

5. "नेकियो में अक्षरता प्राप्त करनी चाहिए ।" कुरआन, अल-बकरा, 148

6. यदिन्द्र यावत्स्त्वमेतावद्दहमीशीय ।

स्तोतारमिद्धिधिषेय रदावसो न पापत्वाय रासीय ॥ ऋ0 7, 32, 18

करे तत्पश्चात् दान करे । परन्तु उसका दान पापियों के लिये नहीं है ।<sup>1</sup>  
 वस्तुतः वे देवत्व को प्राप्त नहीं कर सकते । ऋषि की नैतिकता इसमें चरम  
 रूप में विद्यमान है । इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं - प्रथम तो यह कि जो भी  
 सम्पन्न है उन्हें दान करना चाहिए तथा द्वितीय यह कि सम्पन्नता को प्राप्त  
 करने का प्रयास करना चाहिए, किन्तु वही सम्पन्नता जो दैव्य गुणों से युक्त  
 हो एवं परिग्रह के लिये न हो ।<sup>2</sup> ऋषि दानी की सुरक्षा का आश्वासन देव-  
 ताओं से लेना चाहता है क्योंकि देव-संरक्षण में ही नैतिकता पल्लवित हो  
 सकती है ।<sup>3</sup>

### 6.3.3. सत्यवादिता

आर्ष जीवन निष्पाप है, उसमें किसी प्रकार के असत्य का कोई  
 भी स्थान नहीं है । वह तथा उसका आचरण सत्यम्प्य है । उक्त । सत्य-  
 म्प्य है । उसका जीवन-सदन सत्य पर ही आधृत है । इसको इस मन्त्र के द्वारा  
 भली-भाँति अधिगत किया जा सकता है - "वह सत्योक्ति चारों ओर से मेरी  
 रक्षा करे, जहाँ पर द्युलोक तथा दिन विस्तृत होते हैं । जो गन्धील है वह  
 द्युलोक तथा काल में प्रविष्ट होता है, जिसमें जल प्रविष्ट होता है ॥ तथा ॥  
 जिसमें सूर्य उदित होता है वह मेरी रक्षा करे ।"<sup>4</sup> पस्तुत मन्त्र में द्युलोक 'देश'

1. देशे काले च पात्रे च तद्भानं सात्त्विकं विदुः ॥ गीता, 17/20

2. तुलना करें- "मैं तमाम तारे उठा-उठा के गरीब लोगों में बाँट दूँ ।

कभी एक रात वह आस्माँ का निजाम दें मेरे हाथ में ।" डा० बशीरबद्र

3. पाहि नो अग्ने रक्षसः पाहि धूर्तराव्या ।

पाहि रीषत उत वा जिघांसतो बृहद्भानो यविष्य ॥ ऋ० 1, 36, 15

4. सा मा सत्योक्तिः परि पातु विश्वतो द्यावा च यत्र तत्सन्निहानि च ।

विश्वमन्यन्नि विशते यदेजति विश्वहापो विश्वाहोदेति सूर्यः ॥ ऋ० 10, 37, 2

का तथा दिन 'काल' का द्योत्क है। अतः ऋषि अपने जीवन की सत्य कर्म अथवा सत्य विचार के द्वारा देश एवं काल के भीतर सुरक्षा चाहता है। इससे प्रकट होता है कि सत्य संसार में निर्भय बनाने वाले तत्त्व का नाम है।

#### 6.3.4. विनय

सरलता व्यक्ति को अत्यधिक संवेदनशील बना देती है। विनय के द्वारा अर्जित सरलता अहंकार को भी क्षीण कर देती है। देवताओं में भी विनयशीलता विद्यमान है। अतः ऋषि भी उनका अनुकरण करता है।

उसका कथन है कि "नमस्कार शक्तिस्सम्पन्न है, नमस्कार की मैं स्तुति करता हूँ, नमस्कार ने ही द्युलोक तथा पृथिवी को धारण कर रखा है। अतः देवताओं को मैं प्रणाम करता हूँ नमस्कार ही सबका शासक है। जो कुछ हमने पाप किया है उसे नमस्कार के द्वारा दूर करता हूँ।"<sup>1</sup> उक्त मन्त्रमें नमस्कार को एक देवता के रूप में कल्पित किया गया है। यहाँ नमस्कार का तात्पर्य विनय से है। देवता भी विनीत है, अतः विनय देवत्व की श्रेणी का हुआ। इस दृष्टि से उसे देवता कहना असंगत नहीं है। ऋषि विनय चाहता है क्योंकि विनीत होने पर अर्थात् अहंकार-मुक्त होने पर कर्मलिप्त नहीं होते।<sup>2</sup> विनय अर्थात् क्षमा द्वारा पापों को भी प्रक्षालित किया जा सकता है।<sup>3</sup> ऋषि की उदारता इसी में निहित है कि वह शत्रु के साथ भी विनीत भाव से

1. नम इदुगं नम आ विवासे नमो दाधार पृथिवीमुत घाम् ।

नमो देवेभ्यो नम ईश एषां कृतं विदेनो नमसा विवासे ॥ श्रु 6, 51, 8

2. यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।

हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ गीता , 18/17

3. "क्षमा याचना पर अल्लाह क्षमा कर देता है, क्योंकि वह दयालु है।"

व्यवहार करना है । वह शत्रु को उसके स्वभाव में परिवर्तन लाकर मित्र बनाता है । उसके अन्तः में वैर-भाव नहीं है ।<sup>1</sup>

#### 6.3.5. अतिथि सेवा

अतिथि सेवा की प्रशंसा समस्त धर्म-ग्रन्थों में प्राप्त होती है ।<sup>2</sup> ऋग्वेद भी इसका अपवाद नहीं है । वह आदिम ग्रन्थ अवश्य है परन्तु उसमें सभ्यता एवं सदाशयता की न्यूनता नहीं है । उसके सामाजिक अथवा नैतिक मान-दण्ड किसी भी नीति-शास्त्र में वर्णित मानदण्डों से हेय नहीं है ।

अतिथि-सत्कार को प्रोत्साहित करते हुए वह कहता है कि -  
 'हे इन्द्र ! तुम्हारे इस यज्ञ में तुम्हारे प्रीति भाजन होते हुए हम सुखी रहें । तुम अतिथि की सेवा करने वाले सुदास को सुखी करो तथा राजा त्वंश एवं यादव को अपने अधीन करो ।'<sup>3</sup> इस मन्त्र से स्पष्ट होता है कि देवता के निकट धन अथवा शक्ति प्रीति की पात्र नहीं हैं प्रत्युत वे भाव देखते हैं । साधारण

1. निषू न॒ मात्ति॑मि॒तिं क्य॑स्य चि॒त्तेजि॑ष्ठाभिर॒रणिभि॑र्नो॒तिभि॑रु॒ग्राभि॑रु॒ग्रोति॑भिः ।

नेषि॑ णो यथा॑ पुरा॒नेनाः॑ शूर॒ मन्य॑से ।

विश्व॑ानि पू॒रोरपे॑ प॒र्षि व॒ह्निरे॑रासा व॒ह्निर्नोः॑ अ॒च्छ ॥ ऋ० १, १२९, ५

2. भृ॒त्यान्ति॑थिषु यो भुङ्क्ते भुक्त्वत्सु नरः सदा ।

अमृतं केवलं भुङ्क्ते इति विद्धि युधिष्ठिरः ॥ महाभारत सूक्ति सुधा १३/१३

तथा

संविभज्यान्तिथिष्वश्रितेषु व स्वयमाहरेत् ॥ नीतिवाक्यामृतम् , २५/५५

तथा

अल्लाह को अतिथि सत्कार पसन्द है । कुरआन, हा० मीम० अस-सजदा, ३२

3. प्रि॒यास॑ इत्ते म॒ध्वन्नु॑भि॒ष्टो नरो॑ मदेम श॒रुणे॑ सरवायः ।

नि त्वंशं॑ नि याद॑वं शि॒शीह्य॑तिथि॒गवाय॑ शस्यं करिष्यन् ॥ ऋ० ७, १९, ८

सुदास केवल इसी लिये इन्द्र की प्रीति प्राप्त करता है कि उसने अतिथि सेवा की थी जबकि त्वर्ष तथा यादु राजा होते हुए भी प्रीति नहीं प्राप्त कर सके। अतः ऋषि के लिये अतिथि सेवा एक महत्त्वपूर्ण सेवा है ।<sup>1</sup>

6.3.6. लक्ष्य

आर्ष जीवन का लक्ष्य संसार से पलायन नहीं है । वह इसी संसार में इन्द्रियों का सदुपयोग करते हुए जीवन व्यतीत करना अपना कर्त्तव्य समझता है ।<sup>2</sup> कर्त्तव्य को प्राप्त करना ही उसके जीवन का लक्ष्य है ।

देवताओं में विद्यमान कल्याणभावना , सरलता, सुबुद्धि तथा दान भावना को आत्मसात् करना उसका लक्ष्य है, जिन्हें प्राप्त करके वह दीर्घ समय तक संसार में नैतिकता का विस्तार करना चाहता है ।<sup>3</sup>

वह देवताओं को ऋत का अनुगमन करते हुए देखता है, अतः वह स्वयं भी उन्हीं नियमों का पालन करता है । परन्तु इसके लिये वह निष्पापत्व को आवश्यक मानता है । अतः वह पापों से मुक्त होने का यथा सम्भव प्रयास करता है ।<sup>4</sup> इस प्रकार वह पाप मुक्त होकर नैतिकता के प्रकाश में अपने जीवन के नैतिकता रूपी अन्धकार को समाप्त करना अपना गन्तव्य मानता है तथा संक्षेप में अपने लक्ष्य के मूल सार को वर्णित करते हुए कहता है - "विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव । यद्भद्रं तन् आ सुव ॥"<sup>5</sup>

1. चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् वाचं दद्याच्च सूनृताम् ।

अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञः पञ्चदक्षिणः ॥ महाभारत सूक्ति सुधा , 7/6

2. भद्रं ऋषिभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।

स्थिरैरङ्गैस्तेषुष्टुवांसस्तेभिर्यज्ञैश्च देवहितं यदायुः ॥ ऋ0 1,39,8

3. ऋ0 1,89,2

4. यो मृक्यानि वृक्षे विदामे क्यं स्याम वरुणे आगाः ।

अनु व्रतान्यदिद्वेधन्तो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ऋ0 7,87,7

5. ऋ0 5,82,5

### निष्कर्ष

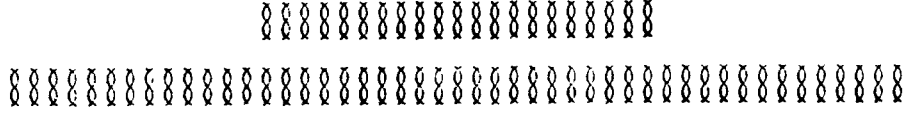
विवेचित तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि ऋषि अपने नैतिक आचरण के द्वारा मनुष्य के समक्ष यह आदर्श प्रस्तुत करना है कि व्यक्ति के लिए अपने जीवन, परिपार्श्व तथा संसार से कल्पित वस्तुओं का त्याग करना आवश्यक है, कल्पित वस्तुओं की जीवन के लिये स्पृहा आवश्यक है तथा नैतिक प्रयास अथवा आचरण करके नीति की स्थापना करना भी आवश्यक है ।

जिस प्रकार भूमि में कंकड़-पत्थर को हटा कर ही उसमें बीजा-रोपण किया जाता है, उसी प्रकार ऋषि भी जीवन रूपी भूमि को समतल बनाने के लिये पाप रूपी बाधाओं को हटा कर नीति का बीजारोपण करना है । रोपित बीज को जिस प्रकार खाद तथा पानी से सींच-सींच कर अंकुरित किया जाता है, उसी भाँति ऋषि भी अपने विचार रूपी नैतिक बीजों को आचरण के द्वारा पल्लवित एवं पुष्पित करना है । इस प्रकार उसकी नैतिकता निषेधात्मक, विधेयात्मक तथा क्रियात्मक रूपों में अवस्थित है ।

वैदिक ऋषि के नैतिक आचरण से यह भी ध्वनित होता है कि यदि उसे आह्वान पर देवता धरती पर अवतरित हो सकते थे तथा वह उन्हें अपना आदर्श मानकर उन्हीं के अनुकरण के द्वारा देवत्व को प्राप्त कर सकता था तो आधुनिक युग का मनुष्य भी ऐसा कर सकता है एवं देवत्व को प्राप्त कर सकता है । वह अपने नैतिक अनुमोदन एवं अनुमोदन के द्वारा मानव-जाति के नैतिक प्रतिमानों को व्यंजित करता है । अतः उनका महत्त्व देश-काल की सीमा का अतिक्रमण करने हुए सर्वग्राह्य एवं सर्वमान्य है ।

परन्तु दिव्य आदर्श को प्राप्त करने के लिये आर्ष-आचरण का अनुपालन आवश्यक है, क्योंकि आर्ष-चेतना में ही देवत्व का अवतरण होता है ।





सप्तम अध्याय  
=====

पाप और दण्ड विधान  
xxxxxxxxxxxxxxxxxxxx

- 7.1. कायिक पाप
  - 7.1.1. अस्त्य
  - 7.1.2. मिथ्यारोप
  - 7.1.3. दुर्वचन
  - 7.1.4. दोहरा व्यवहार
  - 7.1.5. निन्दा
- 7.2. कायिक पाप
  - 7.2.1. दुराचार
  - 7.2.2. द्रोह
  - 7.2.3. हिंसा
  - 7.2.4. राक्षसत्त्व
  - 7.2.5. चोरी
- 7.3. मानसिक पाप
  - 7.3.1. दुर्बुद्धि
  - 7.3.2. द्वेष
  - 7.3.3. कृपणता, लोभ तथा अज्ञान
  - 7.3.4. परिग्रह
  - 7.3.5. कपट
  - 7.3.6. अभिमान
  - 7.3.7. नास्तिकता



### सप्तम अध्याय =====

### पाप और दण्ड विधान =====

नैतिक नियमों के अनुकूल आचरण करना कर्त्तव्य कहा जाता है । कर्त्तव्य का नित्य पालन करने वाला मनुष्य नैतिक गुणों को अर्जित करता है । अतः ऐसे संचित नैतिक गुणों को, जो भावी पारमार्थिक जीवन के लिये श्रेयस्कर हो, पुण्य कहा जाता है । इसके विपरीत अकर्त्तव्य के आवर्तन से मनुष्य दुर्गुण अर्जित करता है, जिन्हें पाप कहा जाता है । पुण्य जन्मजात गुण नहीं है, यह कर्त्तव्य - पालन से अर्जित किया जाता है । उत्कृष्ट कर्मों के करने से उत्तम चरित्र का निर्माण होता है तथा निकृष्ट कर्मों से अधम चरित्र का । इसीलिये चरित्र की उत्कृष्टता को पुण्य तथा चारित्रिक निकृष्टता को पाप कहा जाता है ।

चरित्र एक तटस्थ संज्ञा है किन्तु अपने उत्तम पक्ष में यह सच्चरित्र तथा कुत्सित पक्ष में दुश्चरित्र कहलाता है । ऋग्वेद की दृष्टि में पुण्य चरित्र के लिये वह अतिरिक्त बल अथवा विशेषण है जो चरित्र को अधिकाधिक विकसित करता है तथा पाप एक प्रकार का बन्धन है जो चरित्र को गिराता है । इस प्रकार पुण्य एवं पाप नैतिक-अनैतिक कर्त्तव्यों के फलस्वरूप उत्पन्न वह मानसिक शक्ति है जो मानव को उन्नत अथवा पतित करती है । सामान्यतया धर्म के अन्तर्गत पुण्य एवं पाप को अच्छे तथा बुरे कर्मों के परिणाम के रूप में समझा जाता है परन्तु नैतिक क्षेत्र में ये चरित्र के गुण अथवा अवगुण माने जाते हैं । अतः पाप

ऐतत्त्विक कर्त्तव्य से अर्जित वारित्रियक दोष है तथा पुण्य नैत्त्विक कर्त्तव्य से अर्जित वारित्रियक गुण है ।

ऋग्वेद न केवल नीति-शास्त्र है न ही केवल धर्म-शास्त्र । प्रत्युत वह दोनों को अपने अंदर में सम्पुंजित कर रहा है । उसमें देवता अक्सर विशेष पर कैसा व्यवहार करते हैं तथा मनुष्यों को कैसा व्यवहार करना चाहिए इसका भी उल्लेख है । उसमें इहलोक से लेकर परलोक तक की प्राप्ति के लिए कौन सा व्यवहार करणीय है, विवेचित हुआ है । नीति शास्त्रियों ने धार्मिक समस्याओं का नीति में समावेश नहीं किया है एवं कल्पित धर्म-शास्त्रों ने नैत्त्विक-तत्त्वों की उपेक्षा की है, जिसके परिणामस्वरूप नैत्त्विक दृष्टि से कोई पाप धर्म की दृष्टि में पुण्य है एवं इसी प्रकार धार्मिक दृष्टि से कोई पाप नीति-शास्त्र के अनुकूल है । परन्तु ऋग्वेद में ये दोनों तत्त्व समान रूप से विद्यमान हैं । वह ऐतत्त्विकता को पाप एवं नैत्त्विकता को पुण्य कहता है तथा पाप को ऐतत्त्विक एवं पुण्य को नैत्त्विक । उसकी नीति सन्तुलित है तथा वह समन्वय एवं सामंजस्य उत्पन्न करती है । वह व्यक्ति के अन्तः पर अधिक बल देती है । उसका मत है कि यदि वैयक्तिक संकल्प मन तथा हृदय अशुद्ध प्रवृत्तियों को उत्पन्न करते हैं तो उनसे ही ऐतत्त्विकता का जन्म होना है एवं वह अशुद्ध प्रवृत्ति पाप है । इस प्रकार अन्तःकरण में निहित पाप की भावना ऐतत्त्विकता के जन्म का कारण बनती है । इसलिये ऋषि ने नैत्त्विकता के लिये चित्त की शुद्धता पर बल दिया है ।

बटलर के अनुसार अपनी प्रकृति के अनुरूप कार्य करने को पुण्य तथा उसके प्रतिकूल कार्य करने को पाप कहते हैं ।<sup>1</sup>

पाँलसन के मतानुसार इच्छापूर्वक अपने आन्तरिक उत्कर्ष की वृद्धि का नाम पुण्य है तथा इच्छापूर्वक अपने आन्तरिक उत्कर्ष के ह्रास का नाम पाप ।<sup>2</sup>

1. सी०डी० ब्राँड, नीति शास्त्रीय सिद्धान्त के पाँच प्रकार, पृ० 49

2. श्रीक कृष्ण वर्मा, प्रारम्भिक जाति शास्त्र, पृ० 108

ऋग्वेद में प्राप्त विवरण के अनुसार पाप तीन प्रकार का हो सकता है =

### 1- ज्ञात पाप

इसके अन्तर्गत उन पापों को समाविष्ट किया जा सकता है, जिन्हें ज्ञानवश किया जाता है अर्थात् जिन पापों से कर्त्ता पूर्णतः अभिज्ञ होता है ।

### 2- विस्मृत पाप

इसमें उन पापों का आधान किया जा सकता है जिन्हें ज्ञानवश करके विस्मृत कर दिया जाता है ।

### 3- अज्ञात पाप

इसके अधीन वे पाप आते हैं जिन्हें अज्ञानवश किया जाता है तथा जिनसे कर्त्ता पूर्णतः अभिज्ञ होता है ।

ऋषि तो तीनों ही पापों<sup>को</sup> निन्दा की दृष्टि से देखता है एवं उनसे सुरक्षित रहने का प्रयास करता है, परन्तु वह अज्ञात पापों से विशेष रूप से बचना चाहता है । उसका यह विचार तर्क संगत है । जिन पापों को व्यक्ति ज्ञान वश करता है एवं जिनसे पूर्णतः अभिज्ञ होता है उनसे वह स्वप्रयास के द्वारा भी मुक्ति प्राप्त कर सकता है, क्योंकि जब वह देखेगा कि अमुक पाप से अमुक दुःख उत्पन्न हो रहा है तो वह उन दुःखों को दूर करने का स्वतः प्रयास करेगा ।

जिन पापों को व्यक्ति ज्ञान वश करके विस्मृत कर देता है, उन्हें भी वह दूर कर सकता है, क्योंकि मनोवैज्ञानिक इस बात से सहमत है कि कोई भी स्मृति आत्यन्तिक रूप से नष्ट नहीं होती ।

परन्तु जिन पापों को व्यक्ति अज्ञानवश करता है, अर्थात् जिन्हें वह नहीं जानता कि ये पाप हैं अथवा पुण्य, उनसे वह सरलता से सुरक्षित नहीं रह सकता, क्योंकि उसे ज्ञान ही नहीं होता कि उसने कौन सा ऐसा कर्म किया जो पाप था। अतः ऋषि के द्वारा पूर्वोक्त दो पापों की अपेक्षा अन्तिम से सुरक्षित रहने का विशिष्ट प्रयास करना औचित्यपूर्ण है।

ऋषि ने व्यक्ति की पाप के प्रति वेत्तता-अवेत्तता के आधार पर अथवा पाप के प्रति उसकी मानसिक प्रतिक्रिया के आधार पर पाप के उपर्युक्त तीन रूपों का वर्णन किया था। परन्तु पश्चिमी साहित्य में पाप को उत्पन्न करने वाले साधनों के आधार पर उसके स्वरूप को निर्धारित किया गया जिसके अनुसार पाप को उत्पन्न करने वाले साधन हैं - वाक्, काया तथा मनस्। अतः इनके आधार पर उत्पन्न पापों को वाचिक, कायिक एवं मानसिक कहा गया।<sup>1</sup> कठोर बोलना, मिथ्या बोलना, कुली करना तथा निष्प्रयोजन बोलना वाचिक पाप है, बिना आज्ञा दूसरे के धन का हरण, हिंसा और पर-स्त्री गमन कायिक पाप है तथा दूसरे के धन के हरण का चिन्तन, अनिष्ट चिन्तन, परलोक में अविश्वास मानसिक पाप है।<sup>2</sup>

ऋग्वेद के अनुसार देवता पापियों को दण्डित करते हैं। इसका यह भी तात्पर्य हो सकता है कि पापी स्वकर्मा का फल प्राप्त करता है। वैदिक नीति कहती है कि जो ऋत का पालन करेगा अर्थात् जो नैतिक आचरण करेगा उसे पुण्य के परिणाम स्वरूप देवकृपा अथवा पुरस्कार प्राप्त होगा परन्तु जो निर्धर्मिता का पालन करेगा वह अनैतिक आचरण के परिणामस्वरूप दण्ड का भागी होगा।

1. कायेन त्रिविधं कर्म वावा वापि चतुर्विधम् ।

मनसा त्रिविधं चैव दशकर्मपथास्त्यजेत् ॥ महाभारत सूक्ति, तुंधा, 13/2

2. दीनानाथ सिद्धान्तालंकार, प्राचीन भारत की नीतियाँ, पृ० 85

ऋग्वेद ने विभिन्न पापों के लिये भिन्न - भिन्न दण्ड-विधान किये हैं । उनका प्रचलित पाप- विभाजन के अनुसार विवरण देना उपादेय होगा ।

### 7.1. वाचिक पाप

जिन पापों का वाणी से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्ध होना है उन्हें वाचिक पाप कहने हैं । इसके निम्नलिखित उदाहरण ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं =

#### 7.1.1. असत्य

ऋषि का कथन है कि "यदि मैं राक्षस हूँ तो आज ही मर जाऊँ यदि मैं मनुष्य की आयु को क्षीण करता हूँ तो भी मर जाऊँ तथा जो झूठे ही मुझे राक्षस कहता है वह दस वीरों से वियुक्त हो जाए ।"। इस मन्त्र में असत्य-वादी को दण्ड के रूप में दस वीरों से रहित होने की बात कही गयी है । वस्तुतः यहाँ उन्हें शक्तिहीन होने का दण्ड दिया जा रहा है । जिसके जीवन में सत्य की कोई छाया नहीं, वह सशक्त नहीं हो सकता । इस प्रकार का व्यक्ति असहाय हो जाता है ।

आर्ष-जीवन पावन जीवन था । अतः उस पर राक्षसत्व का आरोप लगाना सत्य से नितान्त दूर जाना है । ऋषि असत् का आश्रय नहीं लेता । वह निःशंक भाव से कह देता है कि उसने कोई ऐसा ऐतिकचरण नहीं किया है जिसके कारण उसे राक्षस कहा जा सके । वह यह भी स्वीकार करता है कि यदि

1. अथा मु॑रीय॒ यदि या॑तु॒र्ध॒नो॒ अस्मि॒ यदि वा॑यु॒स्त॒त्प॒ पू॒रुष॑स्य ।  
अथा॒ स वी॒रेर्द॑शभि॒र्वि यू॒या॒ यो मा॒ मोघ॑ या॒तु॒र्ध॒नेत्या॑ह ॥

ऐसा ही है तो उसे जीवित रहने का अधिकार नहीं है । इस प्रकार वह भौतिक आचरण के लिये अपने प्राण तक त्याग करने को उद्यत है । अतः इस प्रकार के नैतिक ऋषि को जो राक्षस कहेगा उसका क्षीण होना अन्याय नहीं है ।

### 7.1.2. मिथ्यारोप

ऋग्वेद का ऋषि कहता है - "जो व्यक्ति हमारे प्रति किसी प्रकार का अपराध लगाता है अथवा पाप लगाता है, उसके प्रति पाप स्वतः पहुँच जाए क्योंकि वह पाप के विषय में ही बोलता रहता है । हे अग्नि ! तुम जानी हो अतः इस आरोप को तुम मारो तथा दोनों पापों से जो हमें मारना चाहता है उसे भी तुम समाप्त करो ।" इस मन्त्र से स्पष्ट है कि मिथ्यारोप पाप है । यह मिथ्यारोप अपराध अथवा पाप का हो सकता है । एक भौतिक जीवन को नष्ट करने वाला है तथा दूसरा आध्यात्मिक जीवन को । इस प्रकार दोनों ही घातक हैं । ऋषि का कथन है कि जो उक्त घात के साथ उस पर आक्रमण करना चाहता है वह निश्चित रूप से दण्ड का अधिकारी है । वह ऐसे व्यक्तियों के लिये मृत्यु दण्ड निर्धारित करता है । किसी पर मिथ्यारोप लगाना पाप बोलने के तुल्य है और ऐसे पापी को दण्डित करना न्याय के अनुरूप है ।

### 7.1.3. दुर्वचन

ऋषि वाणी सम्बन्धी अन्य पाप के विषय में कहता है कि -  
"हे अग्नि ! जो हमें नहीं देता है, जिसका जीवन पापमय है, जो हमसे शत्रुता करता है तथा जो अपनी शक्तिय के द्वारा हमें मारने की चेष्टा करता है उसके

1. यो न आगो अयेनो भरात्यधीदधमर्षसे दधात ।

जुही विक्त्वो अभि शस्तिमेतामग्ने यो नो मर्षयति द्रयेन ॥

लिये मन्त्र और भी शक्तिशाली बने, उसके दुर्वचन के द्वारा उसका शरीर स्वयं-मेव नष्ट हो जाए ।<sup>1</sup> प्रस्तुत मन्त्र में शक्ति द्वय की ओर संकेत है जो है- मानसिक तथा वाक्विक । ऋषि के कहने का तात्पर्य यह है कि जो दुर्बुद्धि होते हैं वे ही दुर्वचनों का प्रयोग करते हैं । ऐसे व्यक्तियों का जीवन पापमय होता है । इनके मानसिक पाप ही वाक्विक पापों में परिणत हो जाते हैं ।

ऋषि की धारणा है कि जिनके विचारों में सौन्दर्य नहीं होता वे अपनी वाणी में भी सुन्दरता नहीं उत्पन्न कर सकते । इस प्रकार की कुत्सित वृत्तियों वाले का जीवन अपने अपराधी जीवन के द्वारा विस्थापित होकर स्वयं-मेव नष्ट हो जाना है ।

वह अन्यत्र कहता है कि जो सरल व्यवहार वाले के प्रति भी कुटिल वाणी का प्रयोग करते हैं वे स्वतः नष्ट हो जाते हैं ।<sup>2</sup> स्वतः नष्ट होने से तात्पर्य मनोदैहिक रोगों के द्वारा नष्ट होने से है ।

#### 7.1.4. दोहरा व्यवहार

ऋग्वेद में कहा गया है - "हे पूषन् ! दोहरा व्यवहार करने वाला जो पापमयी बातें करता है, उस संताप कारक व्यक्ति को तू पैर के नीचे कुचल दो ।"<sup>3</sup> प्रस्तुत मन्त्र में आचार एवं विचार में कहा गया है कि ऐसा व्यक्ति देवताओं की घृणा का पात्र होता है । फलतः उसका पतन निश्चित होता है ।<sup>4</sup>

1. यो नो अ॒ग्ने अ॒रि॒वाँ अ॒घ्रा॒युर॒रा॒ती॒वा मु॒क्य॒ति द्र॒येन॑ ।

मन्त्रो॑ गुरुः पुन॑रस्तु सो अ॒स्मा अ॒नु म॒क्षी॒ष्ट त॒न्व द॒ह॒क्तेः ॥ ऋ० १, १४७, ४

2. ....।

अ॒र्ष॒त स्व॒यमे॒ते ववो॑भिर्भू॒यते वृ॒जि॒नानि॑ ब्रु॒वन्तः ॥ ऋ० ५, १२, ५

3. त्वं तस्य॑ द्र॒यवि॒नोऽघ॑सि॒स्य कस्य॑ वि॒त् । प॒दाभि॑ ति॒ष्ठ त्पु॑षिम् ॥ ऋ० १, ४२, ४

4. "बयनी तथा करनी में अन्तर रखने वाले से अल्लाह प्रसन्न नहीं रहता ।"



सोम जीवन का वास्तविक सुख है । वह ऐसा आनन्द है जिसे प्राप्त करने के लिये देवता भी लालायित रहते हैं । किन्तु जो सत् को असत् के साथ मिश्रित करके प्रस्तुत करता है वह कपटी व्यक्ति उसे कभी नहीं प्राप्त कर सकता ।<sup>1</sup>

अतः ऋषि का आशय है कि आन्तर तथा बाह्य में ओद रखते हुए व्यवहार करना चाहिए अन्यथा दण्डित होना पड़ेगा ।<sup>2</sup>

### 7.1.5. निन्दा

ऋग्वेद में निन्दा को पाप की संज्ञा दी गई है तथा निन्दकों को छिन्न-भिन्न करने का प्रावधान किया गया है ।<sup>3</sup> एक मन्त्र में कहा गया है कि - "हे रक्षक देवताओ ! हमारा मार्ग प्रदर्शन करो, हमारे ऊपर निद्रा शासन न करे एवं जल्पना करने वाला व्यक्ति भी शासन न करे । हम सब सोम के प्रिय होते हुए सुन्दर स्तोत्रों का मधुर उच्चारण करें ।"<sup>4</sup> इस मन्त्र से स्पष्ट है कि ऋषि के निकट निन्दा नैतिक विचारों की सुषुप्ति का नाम है । ऋषि अपने जीवन में जागरूकता वाहता है, सुषुप्त व्यक्ति सोम तथा सुन्दर स्तोत्रों से वंचित रह जाता है । इसलिये वह जागरण को अभिभूत करने वाली निन्दा से बचता है ।<sup>5</sup>

1. इन्द्राय सोम सुषुप्तं परि सुवापामीवा भवतु रक्षसा सह ।

मा ते रसस्य मत्सत द्याविनो द्रविणस्वन्त इह सन्निवन्दवः ॥ ऋ09,35,1

2. "झूठी बातों से बचो तथा मनसा, वाचा एवं कर्मणा सत्य का पालन करो ।"

कुरआन, 22/30

3. विषु द्वेषो व्यहृत्मादित्यासो वि संहित्सु । विष्वग्वि वृहता रपः ॥ ऋ08,67,1

4. वातारो देवा अधि वोचना नो मा नो निद्रा ईशत मोत जल्पिः ।

वयं सोमस्य विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमा वेदेम ॥ ऋ0 8,48,14

5. आक्रोशं परिवादं च पेशुन्यं च विवर्जयेत् । महाभारत सूक्ति सुधा, 104/30

वह निन्दा अथवा निन्दकों को अपने परिपार्श्व से दूर कर देना चाहता है क्योंकि उसके लिये वह पाप तथा शत्रु से किसी भी दृष्टि से कम हो नहीं है । उसका यह भी विचार है कि निन्दक का जीवन देव-सुरक्षा तथा दिव्य-प्रकाश से वंचित रह जाता है ।<sup>1</sup> कहा भी गया है कि निन्दक विद्या अथवा ज्ञान नहीं प्राप्त कर पाता ।<sup>2</sup>

ऋषि की आकांक्षा है कि जो लोग उस जैसे हैं अर्थात् आर्ष चेत्मा से युक्त हैं वे देवताओं की स्तुति करने हुए अपना जीवन व्यवतीत करें, किन्तु जो इसके विपरीत देवताओं की निन्दा करने वाले हैं उनकी यह लीला ही समाप्त हो जाए ।<sup>3</sup>

ऋग्वेद में देव-निन्दकों के विषय में कहा गया है कि "इनके मध्य वस्तुतः एक ही देवता है जो विशेष रूप से वस्तुओं को जानता है, वह {देवता} सत्य है, मनन के योग्य है, कवियों ने उसकी स्तुति की है, वह शक्तिशाली है । तीन नोक वाले को चार नोक वाला शक्तिशाली होने के कारण मारता है, देवताओं की जो निन्दा करता है वह पहले ही नष्ट हो जाया करता है ।"<sup>4</sup>

जो निन्द्य है उसकी निन्दा तो उचित है परन्तु पक्कि, सत्य तथा कल्याण के प्रतीक स्वरूप देवताओं की निन्दा अक्षम्य अपराध है । अतः ऐसे निन्दकों का जीवन नष्ट हो जाता है ।

1. अ॒तीया॒म नि॒दस्ति॒रः स्व॒स्तिभि॑र्हि॒त्वाव॑धमरा॒तीः ।

वृ॒ष्ट्वी शं गो॒राप॑ उ॒न्नि भेष॑जं स्या॒म मरु॑तः सु॒ह ॥ ऋ० ५, ५३, १४

2. वि॒द्या ह वै ब्रा॒ह्मण॑माज॒गाम गो॑पाय मा शे॒वधि॑ष्टेऽहमस्मि ।

अ॒यका॒यानृ॒ज्वेऽय॑ताय न मा ब्रू॒या वी॒र्य॑वती त्वा स्या॒म् ॥ निरु॑क्त, १/४

3. उ॒न ब्रु॑वन्तु नो नि॒दो निर॑न्यत॒श्चि॒दरा॑त । दधा॑न्ता इन्द्र॒ इद्दु॑वः ॥ ऋ० १, ४, ५

4. ए॒तच्च॑न त्वो॒ वि चि॑के॒तदेषा॑ स॒त्यो मन्त्रः॑ कवि॒शस्त्र॑ ऋ॒धावा॑न् ।

त्रि॒रथि॑ हन्ति॒ वतु॑र॒श्रि॒गो दे॒वि॒नि॒दो ह प्र॒थमा॑ अ॒र्घ्यन् ॥ ऋ० १, १५२, २

इस प्रकार ऋग्वेद में कायिक पापों के अन्तर्गत सूक्ष्मन्म बानों का ध्यान रखा गया है । जिन कायिक कर्मों को समाप्त करने से नैतिकता का प्रादुर्भाव होता है उन्हें ऋग्वेद पाप की श्रेणी का मानकर उनके व्यवहार करने वाले को दण्डित करना है ।

आधुनिक सभ्य एवं उन्नत समाज इस प्रकार के पापियों के लिये कोई भी दण्ड निर्धारित नहीं कर सका है, जिसके परिणाम स्वरूप उन समाजों में प्रियमाण नैतिकता के शरीर पर पापियों का नाण्डव हो रहा है ।

#### 7.2. कायिक पाप

जब पाप रूपी विचार शारीरिक आचारण के द्वारा प्रकट होता है तो उसे कायिक पाप कहा जाता है । प्रायः कायिक पापों को ही केवल पाप समझा जाता है अन्य को नहीं, क्योंकि अपने प्रकटीकरण में ये अन्य की अपेक्षा अधिक स्पष्ट एवं मूर्त होते हैं ।

ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में इनका उल्लेख है । उदाहरणार्थ -

##### 7.2.1. दुराचार

ऋषि अपने जीवन को नैतिक तलाने का यथा सम्भव प्रयास करता है । वह अपने जीवन पर किसी भी प्रकार की अनैतिकता की छाया देखना नहीं चाहता । अतः वह कहता है कि " हे पूषन् ! जो कोई पापी, हिंसक, बुरे मार्ग पर चलने वाला हमें आदेश देता है उसे हमारे पथ से दूर हटाओ । " <sup>1</sup> इस मन्त्र से प्रकट होता है कि दुराचरण पाप है तथा दुराचारी नैतिक व्यक्ति को अभिभूत

1. यो नः पूषन्घो वृको दुःशेव आदिदेशति । अप स्मत् पथोजिहि ॥

नहीं कर सकता । इस प्रकार तो यदि कोई शासक भी है तो उसे पद-व्युत होना पड़ेगा, क्योंकि जब शासक ही दुरावारी होगा तो उसकी अधीनस्थ प्रजा को नैतिक - औत्तिक का निर्देश लौन करेगा ? इसी बात को ध्यान में रखकर ऋषि उन्हें शासक रूप में नहीं चाहता ।

ऋग्वेद स्पष्ट शब्दों में कहता है कि दुश्चरित्र व्यक्ति उच्चतर सुख तथा शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता ।<sup>1</sup> जो धर्म एवं नीति के मार्ग से हट गया वह दुश्चरित्र है । ऐसा व्यक्ति सम्भवतः सांसारिक वैभव एवं सुख चाहेप्राप्त कर ले परन्तु दिव्य अथवा आध्यात्मिक आनन्द वह कभी नहीं प्राप्त कर सकता । दूष्कर्मों का असीम भार लेकर देवत्व तक आरोहण असम्भव है तथा जीवन की गति को भी यथावत् बनाये रखना कठिन । ऋग्वेद कहता है कि ऐसे दुश्चरित्र व्यक्ति की आयु क्षीप हो जाती है ।<sup>2</sup>

ऋग्वेद में पति से द्वेष करने वाली एवं स्वच्छन्द आचरण करने वाली स्त्री के विषय में कहा गया है - " जो भाई-बन्धु रहित झर-झर भटकने वाली तथा पति से द्वेष करने वाली स्त्रियाँ हैं वे कुमार्गी हैं, इसी प्रकार से पापी होने के कारण अनृत (मानसिक सत्य रहित) तथा असत्य (वाचिक सत्य रहित) लोगों ने इस गहरे पद (नरक) को उत्पन्न किया है ।"<sup>3</sup> इस मन्त्र में पति के विपरीत जाने वाली स्त्री को कुत्सित मार्ग पर जाने वाली कहा गया है । इस मार्ग का निर्माण पापियों ने किया है, अतः इस पर चलने वाला भी पापी है । इस प्रकार कुमार्गगामी स्त्री अथवा पुरुष दोनों ही पापक हैं तथा उनका स्थाननरक जैसा पतित है ।<sup>4</sup>

1. व्रातारं वा तूनां हवामहेऽवस्पतरधिवृत्तारमस्मयुम् ।

बृहस्पते देवनिदो नि बर्ह्युमा दुरेवा उत्तरं सुम्नमुन्नशन् ॥ ऋ0 2, 23, 8

2. ऋ0 1, 24, 11

3. अत्रारो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरेवाः ।

पापासुः सन्तो अनृता अस्त्या इदं पदमजनता गभीरम् ॥ ऋ0 4, 5, 5

4. असुर्या नामते लोका अन्धेन त्मसाऽऽवृताः ।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ईशोपनिषद, 13

एक मन्त्र में इन्द्र स्तोता से कहते हैं - "हे स्तोता । जो सोम का रस निकालता है उसे मैं समर्थ बनाता हूँ, जो सोम निकालकर नहीं देता उसे मैं मारता हूँ । जो सत्य का हनन करना है तथा वृत्त-व्यवहार करना है उसे मैं मारता हूँ ।"<sup>1</sup>

उपर्युक्त मन्त्र से प्रकट होता है कि सोम का आदान-प्रदान कोई तुच्छ व्यापार नहीं है प्रत्युत इसका सम्बन्ध विचार की पवित्रता एवं आवरण की पवित्रता से है । जो वरित्रवान् होगा वही इसको दे सकता है अथवा प्राप्त कर सकता है । इसके विपरीत जो दुश्चरित्र है वह अपने दुरावरण से सत्य को समाप्त करना चाहता है तथा फलतः देवताओं के दण्ड का भागी बनता है ।<sup>2</sup> देवताओं ने ऐसे व्यक्तिओं का 'वध' दण्ड के रूप में निर्धारित किया है ।

### 7.2.2. द्रोह

ऋषि के द्रोह सम्बन्धी विचार उस मन्त्र में देखे जा सकते हैं जहाँ कहा गया है - "हे वरुण ! पितरों के द्वारा किये हुए द्रोहों को मुक्त करो, जिन्हें द्रोहों को हमने शरीर के द्वारा किया है उससे भी हमें मुक्त करो, जैसे पशु को चुबाने वाले पशु को तृप्त करते हैं वैसे ही वसिष्ठ को बछड़े की भाँति रस्सी से मुक्त करो ।"<sup>3</sup> इस मन्त्र में मानसिक द्रोह के अतिरिक्त शारीरिक द्रोह को भी पाप की श्रेणी में रखा गया है । उक्त मन्त्र से प्रकट होता है कि द्रोह एक ऐसा बन्धन है जिसमें अन्य को बाँधने की इच्छा रखने वाला स्वयं बद्ध हो जाता है ।

1. असुत्सु मे जरितुः साभिवेगो यत्सुन्वते यजमानाय शिक्षम् ।

आशीर्दामहमस्मि प्रहन्ता सत्यध्वृतं वृजिनायन्तमाभुम् ॥ ऋ0 10, 27, 1

2. इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।

तैर्दन्नानप्रदायेभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ गीता, 3/2

3. अथ द्रुग्धानि पित्र्या सृजा नोऽव या वयं वक्रमा त्मूभिः ।

अथ राजन्पशुन् न तायुं सृजा वत्सं न दाम्मो वसिष्ठम् ॥ ऋ0 7, 36, 5

एक अन्य मन्त्र से ज्ञात होता है कि द्रोह एक प्रकार का अन्धकार है जो देवी प्रकाश से स्वतः नष्ट हो जाता है । द्रोही देवताओं का शत्रु है, अतः वह अस्र का आवरण करने वाला है ।<sup>1</sup> ऐसे व्यक्ति का सर्वनाश निश्चित है ।

### 7.2.3. हिंसा

ऋग्वेद में हिंसा के विरोध में कहा गया है - " हे अग्नि ! जो सदैव हिंसक है उसके यज्ञ में तुम न जाओ, यदि कोई प्रतियेक्षी हिंसक हो तो उससे भी यज्ञ में न जाओ, मेरे बन्धु भी हिंसक हों तो उनके यज्ञ में न जाओ, कोई मेरा भाई यदि कुटिल हो तो उसकी आहुति ऋण जैसी है, तुम उसकी कामना न करो, हे अग्नि ! चाहे सखा हो चाहे शत्रु, उसके परिश्रम से उपार्जित धन को हम न भोगें । " <sup>2</sup> इत मन्त्र में औत्तिकता को सम्बन्धों की तुला में नहीं रखा गया है । ऋषि की दृष्टि में स्वजन एवं परजन सभी समान हैं । उनमें यदि कोई भेदक तत्त्व हो सकता है तो वह उनका नैत्तिक - औत्तिक आचरण है । ऋषि का स्व-जन वही है जो नैत्तिक है । इसके विपरीत उसके लिये सभी वृत्र सदृश हैं ।

हिंसक व्यक्ति यदि यज्ञ भी करता है तो उसके यज्ञ देवताओं से वंचित रह जाते हैं । देवता दया एवं प्रेम की भावना से ओत-प्रोत है । वे हिंसकों के मध्य नहीं जाने । अतः जहाँ हिंसा है वहाँ देवत्व से रिक्त स्थान पर अज्ञानत्व उपस्थित हो जाता है ।

यदि कोई प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से ऋषि सदृश नैतिक व्यक्ति की हिंसा करना चाहता है वह सभी देवताओं के द्वारा मारा जाता है।<sup>3</sup> ऋषि

1. कवस्यात्र जनिमास्य च स्वर्द्धहोरिषः संपृचः पाहि सूरीन् ।  
आमासु पृषु परो अमृष्य नारात्मो वि नशन्नानृतानि ॥ श्रु 2,35,6
2. मा कस्य यक्ष सदमिदुरो गा मा देशस्य प्रमिनुतो मापेः ।  
मा भ्रातरग्ने अजोर्ध्वं वेमा सख्युर्दक्ष रिषोर्भुजम् ॥ श्रु 4,3,13
3. यो नः स्वो अरणो यश्च निष्यो जिघांसति ।  
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम् ॥ श्रु 6,75,19

को आन्तरिक सुरक्षा उसके मन्त्र प्रदान करते हैं । मन्त्र वे आन्तरिक विचार हैं जो अन्मानस लोक से आते हैं । अतः जिनके हृदय में ऋत विद्यमान हो वे ही ऋषि हैं एवं जिनका अध्यात्म इस्ते रीना है वे दुश्चरित्र । इस प्रकार का दुश्चरित्र व्यक्ति यदि हिंसा करता है तो वह स्वयं हिंसित हो जाता है ।

#### 7.2.4. राक्षसत्व

एक मन्त्र में कहा गया है कि "अच्छे मन्त्रों के शक्तिशाली देवता यज्ञ में हवन के उपरान्त हमारे लिये कल्याणकारी हों, राक्षसों को , अहि को वृक को मारते हुए रोगों को हमसे पृथक् करो ।"<sup>1</sup> उक्त मन्त्र में राक्षस, अहि तथा वृक के साथ ही रोग को भी दूर करने की बात है । इस्ते स्पष्ट होना है कि राक्षस आदि भी रोग सदृश हैं । वस्तुतः जो भी विनाशशील शक्तियाँ हैं उन्हें ऋषि राक्षस कहता है । रोग भी विनाश करता है एवं राक्षस भी, अतः वे विनाश के पर्याय हैं ।

राक्षसी वृत्तियाँ रखने वाला मनुष्य देवताओं के द्वारा मारा जाना है । देवताओं का देवत्व इसी बात में निहित है कि वे ऋत के मार्ग की समस्त बाधाओं को समाप्त करते हैं एवं पृथिवी को निष्कण्ठ बनाते हैं ।<sup>2</sup>

एक मन्त्र से प्रकट होता है कि दुर्वृत्तियों वाला व्यक्ति बाह्य अक्रूरणों द्वारा चाहे जितना भी सज्जित हो ले, आन्तरिक कुरूपता के कारण वह जीवन-संग्राम में विजयी नहीं होता ।<sup>3</sup> जीवन की मनोज्ञता अध्यात्म पर

1. शं नो भवन्तु वाजिनो हवेषु देवताता मिन्द्रवः स्वर्काः ।

जम्भ्यन्तोऽहिं वृकं रक्षांसि सनेम्यस्मद्युवन्नमीवाः ॥ ३07,38,7

2. सरस्वति देविन्दो नि बर्ह्य प्रजां विश्वस्य बृहस्पत्य भायिनः ।

उत क्षितिभ्योऽवनीरविन्दो विषमेभ्यो अश्वो वाजिनीवति ॥ ३06,61,3

3. वज्राणासः परीणाहं पृथिव्या हिरण्येन मृणिना शुम्भमानाः ।

न हिन्वानासस्तिस्तिस्त इन्द्रं परि स्पशो जदधात्सूर्येण ॥ ३01,33,8

निर्भर है। बाह्य अलंकार सौन्दर्य उत्पन्न तो करते हैं किन्तु ज्योतिरिंगण के द्वारा अन्धकार में उत्पन्न किये गए प्रकाश की क्षीण किरण के तुल्य।<sup>1</sup>

अतः आन्तरिक रूप से कुरूप व्यक्ति राक्षस सदृश है जिसे इन्द्र पराजित करते हैं।

### 7.2.5. चोरी

चोरी के द्वारा व्यक्ति अन्य लोगों की वस्तु को अधिकृत करना चाहता है। यह ऐसा ऐतिक साधन है जिसे संसार में आर्थिक समस्याएँ उत्पन्न हो सकती हैं। अतः इन समस्याओं को समाहित करने के लिये ऋषि प्रार्थना करता है - "हे अग्नि ! तू यज्ञविमुख व्यक्ति को, निरर्थक बोलने वाले को, कृपण तथा श्रद्धा रहित को, जो किसी की वृद्धि नहीं चाहते तथा यज्ञ रहित को, इन समस्त दस्युओं को तू समाप्त करो। अग्नि इनके पूर्व है तथा ये पश्चात्"।<sup>2</sup> प्रस्तुत मन्त्र में अपाङ्गिक, कृपण, कटुवक्ता तथा ईर्ष्यालु व्यक्तियों को दस्यु कहा गया है। वस्तुतः यज्ञ देवताओं एवं मनुष्यों के मध्य पवित्र वस्तुओं के आदान-प्रदान का नाम है, जो इससे विमुख होता है वह देवत्व तक उनके अधिकारों को न पहुँचा कर स्वयं भोगता है, अतः वह दस्यु के समान ही हुआ। इसी प्रकार कृपण भी दान आदि के द्वारा मनुष्यों की सहायता करने से निरीह हो जाता है। वह केवल धन का संकय करता है, अतः ऐसा व्यक्ति भी दस्यु है जो उस धन को अवरुद्ध करता है जिसका वास्तविक अधिकारी अन्य कोई है। ईर्ष्यालु

1. वर्धन्त्यधर्मेण नरस्ततो भद्राणि पश्यन्ति ।

ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ महाभारत, वनपर्व, 94/3

2. न्येन्नुन्नुयिनी मृध्वायः पूर्णैरश्रुतां अश्रुतां अज्ञान् ।

प्र प्र तान्दत्यूरग्निर्विवाय पूर्वशक्कारापरां अप्य्युन् ॥ ३० 7,6,3



भी दस्यु तुल्य है क्योंकि वह उन वस्तुओं की आकांक्षा करता है जिस पर उसका कोई अधिकार नहीं होता ।

अतः ऋषि देव-शक्तियों से प्रार्थना करता है कि वे चोरो एवं दस्युओं को दण्डित करें ।<sup>1</sup> यह दण्ड इस बात का द्योत्क है कि चोरी ऐतत्त्व तथा दण्डनीय अपराध है ।

### 7.3. मानसिक पाप

वैदिक ऋषि के समक्ष मानसिक पाप जघन्य है । वह इन्ते सुरक्षित रहने का यथाशक्ति प्रयास करता है । जिन पापों का सम्बन्ध मन से होता है वे मानसिक पाप हैं । इनकी जड़े अधिक गहन होती हैं । मानसिक ऐतत्त्वता सम्पूर्ण व्यक्तित्व को नष्ट करने के लिये पर्याप्त है । यही कारण है कि ऋग्वेद में व्यक्ति के आचरण से पूर्व उसकी आन्तरिक शुद्धि पर बल दिया गया है ।

ये पाप निम्नलिखित हैं -

#### 7.3.1. दुर्बुद्धि

जिसकी बुद्धि कुटिल है वह ऐतत्त्व कर्मों को करने में लेश-मात्र भी संकोच नहीं करेगा । आन्तरिक पाप उसका स्वभाव बन कर रह जाते हैं । इस विषय में ऋषि कहता है - "हे देवताओ ! हमारी पाप-बुद्धि का नाश करो, हमारे रोगों को दूर भगाओ, हमारी बुद्धि दान से विमुख न हो । तुम हमारे शत्रुओं को हमसे दूर ले जाओ । उन गीदुष्ट बुद्धि को नष्ट करो । हमको

1. स्तेनं राय सारमेऽ नस्करं वा पुनः सर ।

स्तोतृनिन्द्रस्य रायसि किम्स्मान्दुच्छुनायसे नि षु स्वप ॥ 7,55,3

अतीव कल्याण और सुख प्रदान करो ।"<sup>1</sup> प्रस्तुत मन्त्र में ऋषि ने स्पष्टतया कहा है कि पाप बुद्धि एक प्रकार का रोग है जो दान जैसी नैतिक भावना को दुर्बल कर देता है । ऋषि को यह दुर्बलता अप्रिय है अतः वह प्रार्थना करता है कि देवता उसे इस दुर्बलता से निकाल कर शक्ति की ओर ले जायें । किन्तु वह उन्हें नष्ट करने को कहता है जो इस पाप बुद्धि से नहीं निकलना चाहते और रोगग्रस्त होकर अपने रोग के कीटाणुओं को संक्रमित करना चाहते हैं । ऐसा व्यक्ति कल्याण एवं सुख से वंचित तथा देवताओं से दण्डित होता है ।

ऋषि की आकांक्षा है कि समस्त मानव आर्ष-वेत्ता से युक्त हों, किन्तु जो स्वयं उसकी इस महत्त्वाकांक्षा के प्रति दुर्विवार रखता है उसे अग्नि-देव दग्ध कर देते हैं । दुर्विवार औत्तिकता को संबल प्रदान करता है । अतः वह स्वयं औत्तिक है । ऋषि इस औत्तिकता को नष्ट करने के लिये तत्पर है ।<sup>2</sup>

एक ऋचा में कहा गया है - "राजा वरुण ने सूर्य के लिये पार करके जाने वाला पथ निर्मित किया तथा जहाँ पैर नहीं रखा जा सकता था उस रिक्तता में पैर रखने योग्य स्थान किया तथा वे हृदय का भेदन करने वाले का निराकरण करते हैं ।"<sup>3</sup>

उक्त मन्त्र के अनुसार हार्दिक कष्ट पहुँचाना औत्तिक है । यहाँ शारीरिक कष्टों की अपेक्षा मानसिक दुःखों को अधिक उद्वेजक मानकर ऐसा करने वाले को दण्डित करने का विधान किया गया है ।

1. अ॒मी॒वाम॑ वि॒श्वाम॑ना॒हु॒त्पि॒पारा॑ति॒ दुर्वि॑द्रा॒मधा॑युतः ।

आ॒रे दे॒वा द्वे॒षो अ॒स्मदु॑पो॒तन्नो॑ णः॒ शर्म॑ यच्छता स्व॒स्त्ये ॥ ऋ० 10, 63, 12

2. यथा॑ वि॒द्वद॑म॒त्सम॑ग्ने॒ संजूर्व॑सि क्षमि ।

ए॒वा दे॒ह मि॒त्रम॑हो॒ यो अ॒स्मधु॑ग्दुर्म॒न्मा कश्च॑ वे॒नति॑ ॥ ऋ० 8, 60, 7

3. उ॒हं हि॑ रा॒जा व॑रु॒णश्च॑कार॒ सूर्या॑य॒ पन्था॑मन्वेत्त्वा उ॒ ।

अ॒पदे॑ पा॒दा प्र॑ति॒धा॒त्वेऽक॑रु॒ताप॑व॒क्ता हृ॒दया॑वि॒धश्चि॑त् ॥ ऋ० 1, 24, 8

सांसारिक नियम व्यक्ति के अध्यात्म की उपेक्षा करके बाह्य सामंजस्य एवं शान्ति के हेतु निर्मित किये जाते हैं। यही कारण है कि किसी को मानसिक रूप से आशान्त करना उन नियमों के अन्तर्गत क्षम्य है। परन्तु ऋग्वेद ने मनुष्य के भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही जीवन-स्तरों के अनुरूप नियमों का विधान किया है। उन नियमों के अनुसार किसी को आन्तरिक रूप से दुःखी करना पाप के समान है और देवता पाप को समाप्त करने के लिए कटिबद्ध है।

### 7.3.2 द्वेष

ऋग्वेद में द्वेष तथा असूया प्रायः समतुल्य हैं। इनका जन्म मानसिक दुर्बलता के कारण होता है। जो आन्तरिक रूप से सशक्त है वे द्वेष के स्थान पर श्रम को महत्त्व देते हैं तथा वे स्वयं उस वस्तु को अर्जित करने की चेष्टा करते हैं जो द्वेष का कारण बन सकती है।

ऋग्वेद में कहा गया है कि "हे इन्द्र - सोम ! जो पाप की बात कहने वाला है तथा जो पाप की ओर उन्मुख है वह तप्यमान होकर उसी भाँति तड़पे जैसे अग्नि में डाला हुआ चरु। जो ब्रह्मद्वेषी है, कच्चा माँस खाने वाला है, भयंकर दृष्टि रखने वाला है तथा प्रत्येक में सन्देह करने वाला है उसे लिये तुम दोनों द्वेष धारण करो तथा उसे अपनी सुरक्षा न दो।"<sup>1</sup>

यहाँ वाचिक तथा कायिक रूप से पाप करने वालों के छटपटाने की बात कही गयी है। कच्चा माँस खाना तथा भयंकर दृष्टि रखना पशुता का

1. इन्द्रा॑सोम॒ सम॒घृ॑षस॒मभ्य॑ ॥ १ ॥ त्प॒र्यस्तु॑ च॒रुर॑ग्नि॒वा इ॑व ।

ब्रह्म॒द्विषे॑ कृ॒व्यादे॑ घ॒रोर॑च॒क्षे द्वेषो॑ ध॒त्मन॑वा॒य कि॑मी॒दिने॑ ॥ ऋ० 7, 104, 2

घोत्क है । ऋषि के कहने का तात्पर्य यह है कि जो द्वेषी है वह पापी है किन्तु जो ब्रह्मद्वेषी है वह पापी के साथ ही पशु भी है । पाशविकता को समाप्त करना देवताओं का कर्तव्य है । अतः ऋषि उनसे प्रार्थना करता है कि ऐसे लोगों को वे अपनी सुरक्षा के अभाव में नष्ट होने दें ।

जीवन की अवधि को दीर्घ करने के लिये शरीर को नीरोग रखना आवश्यक है । पाप भी एक प्रकार का रोग है । अतः उसे भी जीवन से पृथक् करना जीवन के लिये आवश्यक है । द्वेष एक ऐसा रोगाणु है जो पाप को जन्म देता है । देवता इस प्रकार के रोगाणुओं को समाप्त करके स्वस्थ मानवता की रचना करते हैं ।<sup>1</sup>

एक मन्त्र में बताया गया है कि द्वेष का जन्म पाप से होता है जिसे अपनी बुद्धि तथा दक्षता के द्वारा देवता ब्रह्माण्ड से समाप्त करते हैं ।<sup>2</sup>

जो नैतिक होता है उसे देवता अपनी सुरक्षा के अन्तर्गत कल्याण प्रदान करते हैं । देवत्व के संरक्षण में मनुष्य समस्त द्वेष तथा पाप करने वाले अनैतिक व्यक्तियों का अतिक्रमण कर सकता है ।<sup>3</sup>

ऋग्वेद ने द्वेष तथा द्वेष करने वाले दोनों को ही अनैतिक कहा है । वह द्वेष को सामाजिक उन्नति में बाधक मानता है । देवता सामाजिक प्रगति के

1. त्वा॑द॒त्ते॒भी रु॒द्र श॑त्मेभिः श॒तं हि॑मा अ॒शीय॑ भेष॒जेभिः॑ ।

व्य॑स्मद्द्वेषो॑ वि॒तरं॑ व्य॒हो व्य॑मीवा॒शवा॑त्स्यस्वा वि॒षूवीः॑ ॥ ऋ० 2, 33, 2

2. त्वं चि॒त्ती त्वं दक्षे॑र्दिव आ पृथि॒व्या ऋ॑जीषिन् ।

यावी॑र॒घस्य॑ वि॒द्द्वेषः॑ ॥ ऋ० 8, 79, 4

3. अ॒च्छा॑ नो मि॒त्रम॒हो दे॒व दे॒वान॑मे॒ वोवः॑ सु॒मति॑ रो॒दस्योः॑ ।

वी॒हि स्व॒स्ति सु॒क्षिति॑ दि॒वो नृ॒न्दिषो॑ अ॒हांसि॑ दु॒रिता॑ न्रे॒म ना न्रे॒म त्वा॑क्ता॒त्रेम

ऋ० 6, 2१, 11

सहयोगी है। वे मानव कल्याणार्थ बाधों को हटाते हैं। अतः द्वेष रूपी बाधा भी उनके द्वारा समाप्त की जानी है।<sup>1</sup>

### 7.3.3. कृपणता, लोभ तथा अज्ञान

वैदिक जीवन वदान्यता का जीवन था। वैदिक ऋषि यज्ञ में देवताओं को हविष प्रदान करके उदार भाव को प्राप्त होने थे। यज्ञ उनके निमित्त उदारता, प्रेम, अहंकार-मुक्तता तथा देवत्व प्राप्ति का साधन था। अतः उनके निकट कृपणता एक जघन्य अपराध है। कृपण को देवत्व की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि जो सबको देता है उसके लिये ही देवताओं का अर्पण होता है।<sup>2</sup>

एक ऋचा में ऋषि कहता है कि "हे अग्नि ! अग्नीत्किर राक्षस से मेरी रक्षा करो, पाप करने की इच्छा रखने वाले, कृपण एवं हिंसक से मेरी रक्षा करो। तुम्हारे सहयोग से युद्ध करने वाले को हम अभिभूत कर सकें।"<sup>3</sup> प्रस्तुत मन्त्र में पापी, राक्षस तथा कृपण से बचने की बात कही जा रही है। वस्तुतः ये अनेकता के पर्याय हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट होता है कि कृपणता का सम्बन्ध पाप से है जबकि उदारता का पुण्य से।

जिसमें प्रेम का अभाव है, वह कृपण है। ऐसे व्यक्तियों के लिये दान का अर्थ है सम्पत्ति-नाश। इसके विपरीत उदार व्यक्तियों के निमित्त कृपणता का अर्थ है सर्वनाश। कृपण दिव्य प्रकाश से वंचित रह जाता है। यदि

1. विश्वेमत्या नानाम् वक्षसे जगज्ज्योतिर्वृणोति सूनरी।

अप द्वेषो मघोनी दुहिता दिव उषा उच्छदय त्रिधः ॥ ऋ0 1, 48, 3

2. ऋ0 1, 151, 9

3. पाहि नो अग्ने रक्षसो अजुष्टात्पाहि धूर्तररूपो अघायोः।

त्वा युजा पृतनार्यूरभि ष्याम् ॥ ऋ0 7, 1, 13

वह आर्थिक रूप से सम्पन्न भी हो जाए तो किसी आध्यात्मिक अथवा दैविक सम्पदा को नहीं प्राप्त कर सकता । उसकी सम्पत्ति तो मृत्यु की धाती है । ऋषि उस धन को प्राप्त करने के पक्ष में है जो वितरणोपरान्त भी यथावन् बना रहे ।<sup>1</sup>

कृपण के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है - "हे प्रकाश को देखने वाले सोम ! कृपणों को मारते हुए ऋत के मूल स्थान पर तुम बैठो ।"<sup>2</sup> इस मन्त्र से ज्ञान होता है कि सोम की दृष्टि स्वर्ग रूपी प्रकाश पर होती है । स्वर्ग में निवास करना तथा कृपण का वध करना ऋत का अनुगमन है । सोम से कहा जा रहा है कि वे ऋत का कार्य करके ऋत के मूल स्थान पर प्रतिष्ठित हों । स्वर्ग विस्तार का प्रतीक है अतः उसे देखने का अर्थ हुआ विस्तार के प्रति अग्रसर होना । देवता विस्तार को देखते हैं किन्तु कृपण देवल स्वयं को । अतः कृपणता संकुचन की प्रतीक है । देवता संकुचन रूपी कृपण को समाप्त करके मूल स्थान ऋत पर बैठने हैं । इससे प्रकट होता है कि ऋत को प्राप्त करने के लिये कृपणता को समाप्त करना आवश्यक है ।

कृपणता लोभ का परिणाम है । लोभी व्यक्ति कृपण भी होता है । इससे प्रकट होता है कि ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं । वेद ने लोभी अथवा कृपण-वृत्ति वाले व्यक्ति को ऋणि कहा है । ये वह शक्ति है जो सब कुछ अपने अधीन रखना चाहती है । इस प्रकार के व्यक्तियों के लिये देवताओं का क्रोध है।<sup>3</sup>

1. किम्भ्र दसा कृणुथः किमासाथे जनु यः कश्चिदहविर्महीयते ।

अति क्रमिष्टं जुर्न पुणेरसु ज्योतिर्विप्राय कृणुत ववस्यवे ॥ ३० ।, 132, 3

2. अमृधनन्तो अराग्णाः पवमानाः स्वर्दशः । योनावृत्स्य सीदत ॥ ३०९, 13, 9

3. अस्मे उ षु वृषणा मादयेथामुत्पणीर्हन्मूर्ध्या मदन्ता ।

श्रुतं मे अच्छोक्तिभिर्मतीनामेष्टा नरा निवेतारा व कर्णैः ॥ ३० ।, 134, 2

पाप के मूल में अज्ञान विद्यमान होता है । अज्ञानी ही ऐत्तिक हो सकता है ज्ञानी नहीं । ऐसे व्यक्तियों के विषय में ऋषि का यह कथन द्रष्टव्य है - "ज्ञान शून्य व्यक्ति जो अन्न प्राप्त करता है वह निरर्थक है बिल्कुल सत्य कह रहा हूँ कि उसका वध इसमें निहित है कि विशेष रूप से वह न तो देवताओं को देता है न सखा को । अतः वह केवल पाप का ही भक्षण करता है क्योंकि वह स्वयं ही खाता है ।"

उपर्युक्त ऋचा में ज्ञान के महत्त्व को स्पष्ट करने हुए अज्ञान से उत्पन्न हानि पर प्रकाश डाला गया है । यहाँ बताया गया है कि व्यक्ति अज्ञानवश कृपणता अथवा लोभ करता है । परन्तु जो दाना एवं संरक्षक देवताओं के प्रति तथा मित्रों के प्रति उदार भाव नहीं रखता उसका भोजन उसकी दुर्बलियों के कारण ही विषाक्त हो जाता है । स्पष्ट है कि जो विषाक्त भोजन करेगा उसका अन्त निश्चित है ।<sup>2</sup>

एक स्थान पर ऋषि कहता है - "हे अग्नि ! तू मध्य वाले शत्रुओं को तप्त करो, शत्रुभूत कृपण को तपाओ । हे वसुस्वरूप अग्नि ! जानते हुए भी जो अज्ञानी है उसे भी तप्त करो । तुम्हारी किरणें जरारहित {तथा} गतिशील हैं, वे चारों ओर फैल जाएँ ।"<sup>3</sup>

कृपण के साथ ही उसे भी तपाने के लिये कहा जा रहा है जो सचेतन रूप से अज्ञानी बना हुआ है तथा जानकर भी पाप से विमुक्त नहीं होता ।

1. मोघमन्नं विन्दते अप्रेताः सुखं ब्रवीमि वध इत्स तस्य ।

नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाधो भवति केवलादी ॥ ऋ0 10, 117, 6

2. तूना त्रे - संश्रुत्य वाप्रदानारो दरिद्राणां विनिन्दन्ताः ।

समर्थश्वाप्यदातास्ते वै निरयगामिनः ॥ महाभारत सूक्ति सुधा

23/80

3. तपो ह्यग्ने अन्तरां अमित्रान् त्वां संस्मरन्तः परस्य ।

तपो वसो विकितानो अचित्तान्तिव ते तिष्ठन्तामजरा अपासः ॥

ऋ0 3, 18, 2

### 7.3.4. परिग्रह

जिस धन का उपयोग नहीं किया जाता वह स्वप्न की भाँति बिकर जाता है ।<sup>1</sup> इसी सुन्दर उपमा के द्वारा ऋषि कहता है कि "मैं स्वप्न तथा भोग न करने वाले धनी के विषय में अधिक दुःखी हूँ क्योंकि ये दोनों ही शीघ्र नष्ट हो जाते हैं ।"<sup>2</sup>

ऋषि के विचार सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने में उपयोगी हैं । वह कहता है कि धन का सदुपयोग करना चाहिए अन्यथा उसका नाश तो निश्चित है । यदि धन का नाश न भी हो तो व्यक्ति का अन्त तो है ही ।<sup>3</sup> अतः आत्मनाश से पूर्व धन का सदुपयोग करना चाहिए ।<sup>4</sup>

ऋषि धन के परिग्रह का विरोधी है वह इसे पापवत् मानता है उसके ये विचार बुद्ध के अपरिग्रह तथा मार्क्स के साम्यवाद सिद्धान्तों से किसी भी दृष्टि में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है । वस्तुतः ये उनके लिये प्रेरणा-स्रोत हो सकते हैं ।

### 7.3.5. कपट

ऋषि कपट को भी औत्तिक समझते हुए कहता है - "हे मरुतो ! तुम्हारे शस्त्र शत्रुओं का नाश करने के हेतु स्थिर हों एवं शत्रुओं को बाँधने के लिये

1. दान भोगो नाशस्तिप्रो गन्धो भवन्ति वित्तस्य ।

यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥ नीति शतक, 43

2. अथ स्वप्नस्य निर्विदेऽभुज्जन्तश्च रेवतः । उभा ता बघ्नि नश्यतः ॥ ऋ01, 121, 12

3. जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः । गीता ; 2/27

4. उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम् ।

तडागोदरसंस्थानां परिवाह इवाम्भसाम् ॥ वाणक्य नीति दर्पण, 7/14



दृढ़ हों । तुम्हारा बल स्तुत्य हो । कपट करने वाले हम मनुष्यों के निकट बल शाली न हों ।<sup>1</sup> यहाँ कपटी को देवत्व के शत्रु के रूप में अनुमित किया गया है । कपटी अपने आत्मिक आवरण के द्वारा मनुष्यों को आहत करता है । अतः वह उन्नत जीवन का बाधक है । ऋषि बाधाओं को निराकृत करने के लिये देवी साहाय्य की इच्छा करता है । कपटी को शक्तिहीन करने के लिये वह ऐसा कह रहा है । इससे स्पष्ट है कि कपटी का जीवन क्षीण हो जाता है ।

### 7.3.6. अभिमान

अभिमान अथवा अहंकार को ऋग्वेद ने गहिर्त माना है । यह आत्मिक विकास में सबसे बड़ा अपरोध तत्त्व है । यह एक प्रकार से देवत्व को नगण्य समझने की विकृत वृत्ति है । इसके कारण मनुष्य स्वयं को बलवान् एवं विद्याता परिकल्पित करने लगता है । यह स्वयं को जगत् देवता घोषित करता

अतः अभिमानियों के विषय में ऋषि कहता है - " हे मरुद्गण ! जो हमारे समक्ष अभिमान प्रदर्शित करता है, जो स्तुति के माध्यम से प्रकट मन्त्रों की निन्दा करता है उसके लिये तुम्हारे तेज बाधक सिद्ध हों, उन ब्रह्मद्वेषियों को द्युलोक द्वारों ओर से संतप्त करें ।"<sup>2</sup> प्रस्तुत मन्त्र में कहा जा रहा है कि अभिमानियों अपने अभिमान के कारण ब्रह्म से भी द्वेष करने लगता है तथा मन्त्रों अथवा दिव्य विचारों की भी निन्दा करता है । अतः अभिमान के कारण ही

1. स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीरु उत प्रत्तिष्कभे ।

युष्माकमस्तु त्विषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः ॥ ऋ0 1,39,2

2. अति वा यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यः द्वियमाणं निनिन्सात् ।

ऋषि तस्मै वृज्जिनामि सन्तु ब्रह्मद्वेषमभि न शोवतु द्यौः ॥ ऋ06,52,2

द्वेष एवं निन्दा का जन्म हुआ । ऋषि का यह आशय है कि पाप कभी अकेला नहीं रहता , वह अनेक पापों को उत्पन्न करता है । इस प्रकार पापों के जनक अभिमान को समाप्त करना देवताओं एवं ऋषियों का कर्त्तव्य है ।<sup>1</sup>

### 7.3.7. नास्त्किता

ऋग्वेद नास्त्किता को पाप समझता है । परतत्त्व के अविश्वासी व्यक्तियों के समक्ष केवल संसार मुख्य होता है । वे किसी महत्तर शक्ति से अभिन्न नहीं होते हैं । वे परमात्मा का उपहास करते हैं । फलतः मानवता भी उन्हीं के हाथों नष्ट होती है , क्योंकि जो परमात्मा का त्याग करेगा वह आत्मा से कैसे परिचित होगा । उसके निकट मनुष्य केवल शरीर है तथा परमात्मा केवल संसार । इस दृष्टि से हिंसा, पाप, तथा स्नेहिकता इत्यादि उनके लिये तुच्छ है । उन्हें केवल आत्म पोषण तथा शक्ति के अर्जन से प्रयोजन है वह चाहे जिस प्रकार भी अर्जित हो ।

इस प्रकार के व्यक्तियों के विषय में ऋग्वेद कहता है कि - "उस व्यक्ति से एक स्त्री अधिक महनीय होती है तथा उस पुरुष से अधिक शक्तिशालिनी होती है जो देवताओं में विश्वास नहीं करता तथा दान नहीं देता ।"<sup>2</sup> इस मन्त्र में नास्त्कि व्यक्तियों को 'अबला स्त्री' से भी हीन कहा गया है । वास्तविकता यह है कि जिनमें देवत्व नहीं है वे आन्तरिक रूप से दुर्बल एवं क्षीण हैं , क्योंकि शक्ति का मूल स्रोत अध्यात्म होता है तथा उसका मूल स्रोत देवत्व। स्वयं से अभिन्न रहना नास्त्किता है । इस प्रकार का अज्ञानी न तो अध्यात्म से

1. अहंकारी का पत्म निश्चित है ।" कुरआन, 7/13

2. उन त्वा स्त्री शशीयसी पुंसो भवति वस्यसी ।

अदेवत्रादराधसः ॥ ऋ0 5,61,6

परिवर्तित हो पाता है न ही देवत्व को अधिगत कर पाता है इसके परिणाम-स्वरूप वह पापी तो हो जाता है परन्तु शक्तिमान् नहीं । ऐसे व्यक्तियों के विषय में ऋषि कहता है - "हे अग्नि ! जो व्यक्ति पशु आदि धन से सम्पन्न होकर भी तुमको हविष् नहीं देता वह अन्न तथा बल से विहीन होता है । जो व्यक्ति वेद-विरुद्ध कार्य करता है, वह तुम्हारा विरोधी बन कर तुम्हारे द्वारा नष्ट हो जाता है ।"। जो व्यक्ति देवताओं के प्रति अर्पण नहीं करता उसके प्रति देवी शक्ति का सम्प्रेषण भी नहीं होता । इस घटना को , यह विचार कर कि देवता प्रतिकारकी भावना रखते हैं अर्थात् जो उन्हें देना है उसे ही वे देते हैं ऐतत्कि कह देना उचित नहीं है क्योंकि समर्पित वस्तुओं का वस्तुतः वे भोग नहीं करने प्रत्युत वे केवल समर्पण भाव की आकांक्षा रखते हैं जिस्के द्वारा वे मनुष्यों में दान वृत्ति- को उत्पन्न करते हैं । जिसका स्वभाव ही दानी हो गया वह देवत्व तथा मनुष्यत्व में अन्तर नहीं करेगा । इस प्रकार वे मनुष्यों को नैतिकता के लिये प्रेरित करते हैं । परन्तु जो उसकी नैतिक प्रेरणाओं का विरोध करता है उस पापी को वे दण्डित करते हैं । उक्त मन्त्र से स्पष्ट होता है कि वैदिक नियमों के विपरीत जाना ऐतत्किता एवं पाप है । इससे वैदिक नीति का महत्त्व ज्ञात होता है ।

### निष्कर्ष

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि जो व्रत-हीन तथा ऋत का विरोधी है वह अपनी दुर्वृत्तियों के कारण दिव्य ज्योति

1. ये अग्ने नैरयन्ति ते वृद्धा उग्रस्य शक्तः ।

अ० द्वेषो अ० हवरोऽन्यव्रतस्य सशिवरे : ॥ ऋ० 5,20,2

और सौन्दर्य से वंचित रह जाता है तथा उसके जीवन को पाप की मलिनता आच्छादित कर लेती है । अतः जिसे निष्पाप सौन्दर्य चाहिए वह ऋग्वेद की नीतियों का पालन करे तथा जिसे कुरूपता प्रिय हो वह इसके प्रतीप आवरण करे ! कहा भी गया है - "विध्यायतः प्रदीपस्येव स्यहीनस्य वृद्धिः"।<sup>2</sup>

समस्त तथ्यों के आलोक में यह स्पष्ट होता है कि वाचिक, कायिक तथा मानसिक पापों में से अन्तिम पाप अधिक जघन्य होता है क्योंकि उससे ही कायिक तथा वाचिक पापों का भी जन्म होता है । इसीलिये ऋषि मानसिक नैतिकता पर विशेष बल देता है ।

जो व्यक्ति ऋग्वेद के नियमों के विपरीत आवरण करता है वह पापी है । देवतागण पापियों को दण्डित करने हैं । देवताओं का दण्डित करना नैतिक है क्योंकि प्रेरणाएँ यदि शुभ हैं तो परिणाम अनिवार्यतः शुभ होते हैं । बेन्धम ने "प्रेरणा" को शुभ बनाने के लिये तथा परिणामों को नियन्त्रित करने के लिये व्यक्ति को दण्डित करने की सम्भावना को स्वीकार किया है ।<sup>3</sup> देवताओं का दण्डित करना किसी वैमनस्य अथवा शत्रुता का परिणाम नहीं है प्रत्युत वे इसके द्वारा मानव जाति को नैतिक बनाते हैं । उनके दण्ड केवल पापियों के लिये हैं निष्पाप के लिये नहीं ।

1. पितृर्नुरध्या ये समस्वरन्नुवा शौक्न्तः सुदहन्तो अतान् ।

इन्द्राद्विष्टामप धमन्ति मायया त्वमसिक्नी भूमनो दिवस्परि ॥

शु 9, 73, 5

2. नीत्वाक्यामृत्म् , 10/160

3. डा० लक्ष्मी सक्सेना, नीतिविज्ञान के मूल सिद्धान्त, पृ० 104

यदि वे दण्डित न भी करें तो जिसका आवरण उत्तम नहीं है  
ऐसा व्यक्ति अपनी ही दृष्टि में पतित हो जाता है, आत्म साक्षात्कार का  
उसका संकल्प समाप्त हो जाता है, उसकी चेत्ता शून्य हो जाती है तथा  
चरित्र गहिरा ।

=0=

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

क्र०सं०	लेखक	पुस्तक	प्रकाशक	वर्ष
<u>मौलिक साहित्य</u>				
1-		ऋग्वेद संहिता ॥सायण भाष्य सहित॥	वैदिक संशोधन मण्डल, पूना	1933-46 ई०
2-		अथर्ववेद ॥व्याख्या-दामोदर सात्वलेकर॥	स्वाध्याय मण्डल, पारडी	1958-60 ई०
3-		ईश उपनिषद् ॥व्याख्या-मोती लाल शर्मा भारद्वाज॥	न्यू एशियाटिक वैदिक रिसर्च सोसायटी जयपुर	
4-		ईशावास्योपनिषद् ॥शांकर भाष्य सहित॥	आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना	
5-		ऐतरेय उपनिषद् ॥व्याख्या दामोदर सात्वलेकर॥	स्वाध्याय मण्डल, पारडी	1953 ई०
6-		कठोपनिषद् ॥व्याख्या स्वामी शर्वानन्द॥	श्रीराम कृष्णमठ, मैलापुर, मद्रास-4	1956 ई०
7-		कुरआन मजीद ॥अनुवादक मुहम्मद फारूक खाँ॥	मकत्ता अल-हसनात, दिल्ली	1983-84
8-		छान्दोग्य उपनिषद् ॥शांकर भाष्य सहित॥	आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना	1934 ई०
9-		तैत्तिरीय संहिता ॥भट्टभास्कर-सायण भाष्य सहित॥	वैदिक संशोधन मण्डल, पूना	1970-81 ई०
10-		तैत्तिरीय उपनिषद् ॥शांकर भाष्य सहित॥	गीता प्रेस, गोरखपुर	
11-		तैत्तिरीय आरण्यक ॥सायण भाष्य सहित॥	संस्कृत ग्रन्थावली -ग्रन्थांक आनन्द आश्रम मुद्रणालय पूना	

- 12- बृहदारण्यक उपनिषद् आनन्द गिरि मुद्रणालय 1927 ई०  
 {शंकर भाष्य एवं आनन्द पूना  
 टीका सहित}
- 13- मैत्रायणी संहिता बाँके बिहारी प्रकाशन, 1986 ई०  
 {सम्पादक देव कुमारी विद्यालंकर} आकरा
- 14- यजुर्वेद संस्कृत संस्थान बरेली 1965  
 {सम्पादक-श्रीराम शर्मा}
- 15- श्वेताश्वतेर उपनिषद्  
 {व्याख्या-डा० तुलसीराम शर्मा} ईस्टर्न बुक लिंक्स 1985  
 दिल्ली
- 16- ईश्वरकृष्ण सांख्यकारिका मोती लाल बनारसीदास 1976 ई०  
 {व्याख्या-रामशंकर भट्टाचार्य} दिल्ली
- 17- कालिदास अभिज्ञान शाकुन्तलम् साहित्य भण्डार, मेरठ 1974
- 18- चाणक्य चाणक्य नीति दर्पण आर०वी०एस० प्रकाशन, 1974  
 {भाषाकर-ज्वाला प्रसाद हरिद्वार  
 चतुर्वेदी}
- 19- द्वैपायन ब्रह्म वेवर्त पुराण संस्कृत संस्थान, बरेली 1970  
 {सम्पादक श्रीराम शर्मा}
- 20- पतञ्जलि योगसूत्र संवित प्रकाशन, 1973  
 {व्याख्या = सुरेश चन्द्र इलाहाबाद  
 श्रीवास्त्व}

21- पाणिनि	अष्टाध्यायी ॥सम्पादक-स्वामी द्वारिकादास शास्त्री॥	तारा पब्लिकेशंस वाराणसी	1971
22- भट्टोजी दीक्षित	कारक प्रकरण	चौखम्बा अमर भारती प्रकाशन, वाराणसी	
23- भर्तृहरि	नीति शतक ॥व्याख्या-श्रीकृष्ण मणि त्रिपाठी॥	चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थ- माला-10, वाराणसी	1976
24- भास	स्वप्नवासवदत्तम् ॥व्याख्या-जयपाल॥	मोती लाल बनारसीदास, दिल्ली	1968
25- मनु	मनुस्मृति ॥सम्पादक-जर्नादन शास्त्री पाण्डेय॥	मोती लाल बनारसीदास, दिल्ली	1975
26- माघ	शिशुपाल वधम् ॥व्याख्या श्रीनिवास शास्त्री॥	साहित्य भण्डार, मेरठ	
27- यास्क	निरुक्त ॥टीका-दुर्गाचार्य, व्याख्या- ॥भगीरथ शास्त्री॥	मेहरचन्द लक्ष्मणदास, दिल्ली	1964
28- विष्णु शर्मा	पंचतन्त्र ॥अनुवादक-सत्यकाम-विद्यालंकार॥	राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली	1985 ई०
29- वेद व्यास	भगवद्गीता	गीता प्रेस, गोरखपुर	
30- वेद व्यास	भागवत् पुराण ॥सम्पादक-कृष्ण शंकर शास्त्री॥	श्री भागवत्-विद्यापीठ, अहमदाबाद	1972
31- वेद व्यास	महाभारत ॥सम्पादक-दामोदर सात्वलेकर॥	स्वाध्याय मण्डल, पारडी	1978- 79 ई०



32- शुक्राचार्य	शुक्नीति ॥व्याख्या-ब्रह्मशंकर मिश्र॥	काशी संस्कृत ग्रन्थमाला 1968 185, वाराणसी
33- सोमदेव सूरि	नीतिवाक्यामृतम् ॥व्याख्या-रामचन्द्र मालवीय॥	विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला 1972 162, चौखम्बा भवन , वाराणसी
34- शौनक शोध साहित्य =====	बृहद्देवता ॥खण्डित प्रति॥	कलकत्ता 1892 ई०
1- अरविन्द	पुनर्जन्म और क्रम विकास ॥अनुवादक-श्याम सुन्दर झुनझुनवाला॥	अरविन्द सोसायटी 1972 ई० पाण्डिचेरी
2- अरविन्द	वेद रहस्य ॥पूर्वार्द्ध॥ ॥अनुवादक-अभयदेव तथा जगन्नाथ॥	अरविन्द सोसायटी 1971 पाण्डिचेरी
3- अरविन्द	गीता प्रबन्ध ॥अनुवादक-जगन्नाथ॥	अरविन्द सोसायटी पाण्डिचेरी-2
4- अरविन्द	अरविन्द के पत्र ॥प्रथम भाग॥ ॥अनुवादक-चन्द्रदीप त्रिपाठी॥	अरविन्द सोसायटी, 1974 पाण्डिचेरी
5- अरविन्द	अरविन्द के पत्र ॥द्वितीय भाग॥ ॥अनुवादक-चन्द्रदीप त्रिपाठी॥	अरविन्द सोसायटी, 1972 पाण्डिचेरी
6- अरविन्द	अरविन्द के पत्र ॥तृतीय भाग॥ ॥अनुवादक-चन्द्रदीप त्रिपाठी॥	अरविन्द सोसायटी, 1972 पाण्डिचेरी
7- उपाध्याय, बलदेव	भारतीय दर्शन	चौखम्बा ओरियन्टाला, 1984 वाराणसी

- 8- कीथ, ए०बी० वैदिक धर्म एवं दर्शन मोती लाल बनारसीदास 1963  
 {अनुवादक- डा० सूर्यकान्त} दिल्ली
- 9- कृष्णमूर्ति, जे० प्रथम और अन्तिम मुक्ति मोती लाल बनारसीदास 1983  
 {अनुवादक- दयाल शंरण वर्मा} दिल्ली
- 10- ग्रीन, टी०एच० नीति दर्शन की पूर्व-पीठिका राजस्थान-  
 {अनुवादक- संगम लाल पाण्डेय} हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1972  
 जयपुर
- 11- गैरोला, वैदिक साहित्य और संस्कृति चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान 1969  
 वाचस्पति दिल्ली
- 12- त्तिक, बाल गीता रहस्य ज्यन्त श्रीधर त्तिक, गायकवाड 1959  
 गंगाधर {अनुवादक-माधवरावजी सप्रे} वाडा, पृना-2
- 13- पन्त मोहन सदाचार सोपान एस० चन्द एण्ड कम्पनी,  
 वल्लभ रामनगर, दिल्ली
- 14- पाठक दिवाकर भारतीय नीति शास्त्र बिहार हिन्दी ग्रन्थ 1982  
 अकादमी, पटना
- 15- फ्रायड, सिवामण्ड फ्रायड मनोविश्लेषण राजपाल एण्ड सन्ज 1980  
 {अनुवादक देवेन्द्र कुमार} दिल्ली  
 वेदालंकार{
- 16- बाँड, सी०डी० नीति शास्त्रीय सिद्धान्त के बिहार हिन्दी ग्रन्थ 1970  
 पाँच प्रकार अकादमी, पटना  
 {अनुवादक श्याम नन्दन किशोर  
 तथा केदारनाथ लाल}

- 17- मसीह, याकुब पाश्चात्त्य आधुनिक दर्शन की समीक्षात्मक व्याख्या मोती लाल बनारसीदास 1985 दिल्ली
- 18- मिश्र, हृदयनारायण नीति शास्त्र की भूमिका तथा अवस्थी, जमुना प्रसाद हरियाण साहित्य अकादमी 1983 चण्डीगढ़
- 19- मेहता, मोहन जैन आधार लाल पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, जैनश्रम, वाराणसी 1966
- 20- मैकडानल, वैदिक माइथोलॉजी ए0ए0 § अनुवादक-रामकुमार राय § चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी
- 21- मैकडानल, वैदिक देवशास्त्र ए0ए0 § अनुवादक- डा0 सूर्यकान्त § भारत भारती दिल्ली 1961
- 22- राय, छाया काण्ट का नीति-दर्शन भारतीय विद्या प्रकाशन दिल्ली 1977
- 23- राय, रामकुमार असामान्य मनोविज्ञान चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी 1967
- 24- राधाकृष्णन् भगवद्गीता § अनुवादक-विराज एम0ए0 § राजपाल एण्ड सन्ज़ दिल्ली 1962
- 25- राधाकृष्णन् धर्म और समाज § अनुवादक-विराज एम0ए0 § राजपाल एण्ड सन्ज़ दिल्ली 1975
- 26- राधाकृष्णन् उपनिषदों की भूमिका § अनुवादक-रमानाथ शास्त्री § राजपाल एण्ड सन्ज़ दिल्ली 1981

- 27- वर्मा, अशोक कुमार प्रारम्भिक आवार शास्त्र मोती लाल बनारसीदास 1935  
दिल्ली
- 28- विन्तरनिज़ एम0 प्राचीन भारतीय साहित्य मोती लाल -बनारसीदास 1961  
दिल्ली-6
- 29- सदानन्द §अनुवादक- लाजपत राय§
- 29- सदानन्द वेदान्त सार चौखम्बा विद्याभवन 1930  
वाराणसी
- 30- सक्सेना, लक्ष्मी नीतिविज्ञान के मूल सिद्धान्त उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ 1972  
अकादमी, लखनऊ
- 31- सिद्धान्त भूषण महाभारत सूक्ति सुधा गोविन्द राम हासनन्द 1984  
नई सड़क, दिल्ली
- 32- सिद्धान्तालंकार प्राचीन भारत की नीतियाँ दीनानाथ किताब घर गाँधी नगर, 1982  
दिल्ली
- 33- शर्मा, रामावतार यूरोपीय दर्शन बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, पटना
- 34- शर्मा, गणेश दत्त ऋग्वेद में दार्शनिक तत्त्व विमल प्रकाशन, 1977  
गाजियाबाद
- 35- शुक्ल, लालजी नीति शास्त्र, नन्द किशोर एण्ड ब्रदर्स, 1953  
चौक, बनारस
- 36- हट्ट, जे0एच0 भारत में जाति प्रथा मोती लाल बनारसीदास 1983  
दिल्ली.

### अनुषंगिक साहित्य

1- छाँ, मुहम्मद उर्दू हिन्दी शब्द कोश, हिन्दी समिति प्रभाग 1980  
मुस्फा, 'मद्दाह' गन्ध माला 29, उ०प्र०  
॥संकलनकर्ता॥ हिन्दी संस्थान, लखनऊ

2- पाठक, पण्डित भार्गव आदर्श हिन्दी शब्द भार्गव बुक- 1975 डिपों, 1978  
रामचन्द्र कोश चौक- वराणसी  
॥सम्पादक॥

3- शर्मा, चतुर्वेदी संस्कृत-शब्दार्थ कोस्तुभ रामनाराण 1978  
द्वारका प्रसाद, लाल बेनी प्रसाद  
तथा इलाहाबाद  
तारिणीश झा  
॥सम्पादक॥

4- सथे प्रकाश तथा मानक अंग्रेजी-हिन्दी हिन्दी साहित्य सम्मेलन 1983  
मिश्र बलभद्र प्रसाद कोश प्रयाग  
॥सम्पादक॥

5- Hornby A.S. Oxford Advanced Learner's - Oxford -  
(Editor) Dictionary of Current- university Press -  
English Delhi

6- Dr. Suryakant A Practical Vedic Dictionary Oxford - 1981  
(Editor) Press, Delhi

### शोध पत्रिका

1- विनोद कुमार साहित्य परिचय डा० रंगेय राधव मार्ग, 1982  
अष्टवाल आगरा-2  
॥सम्पादक॥

2- Social Dimensions of Mental Health Geneva 1981  
(WHO)

आंग्ल साहित्य .  
=====

<u>S.No.</u>	<u>Author</u>	<u>Book</u>	<u>Publisher</u>	<u>Year</u>
1.	Frawley, David	Hymns from the Golden Age.	Motilal Banarsidas, Delhi.	1986
2.	Harrison, T.R. (Editor)	Principles of Internal Medicine	McGraw Hill Kaga Kusha Ltd. New Delhi.	
3.	Jung, C.G. (Ed. Jolende Jacobi)	Psychological Reflections.	Routledge & Kegan Paul London.	1953
4.	Lachman, S.J.	Psycho Somatic Disorders.	John Wiley & Sons Inc. New York.	
5.	Renou, Louis	Religion of Ancient India,	University of London, London.	1953
6.	Shakespeare (Ed. Horace Howard)	As you like it	Dover Publications New York.	
7.	Singh, Satya Prakash	Sri Aurobindo And Jung, A comparative study in Yoga & Depth Psychology	Madhuc Chandas Publications Aligarh.	1986

---